■ वर्ष 43, अंक 8, अक्टूबर 2020 ■ मूल्य 20 रुपये

सामयिक वार्ता

महामारी को बनाया महा हारी
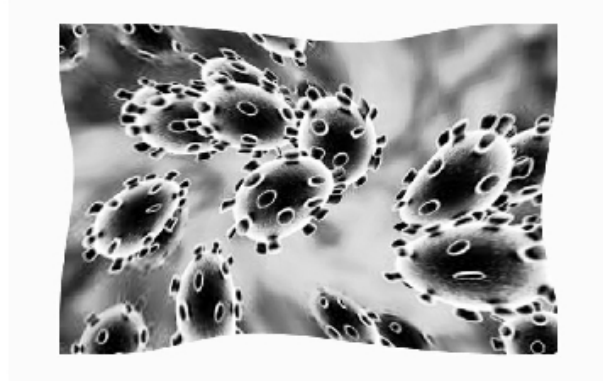
सरकार ने आम आदमी को उसके हालात पर निहत्था छोड़ा, कोविड-19 को सत्ता लिप्सा और पूंजीवादी नीतियों को शह देने के अवसर में बदला

मानव सभ्यता में महामारियों का दौर

शिक्षा की चुनौतियां

■ विमल कुमार की कविताएं ■ लोहिया और उनकी प्रासंगिकता

कविता

विमल कुमार

चुनाव में ईश्वर

ईश्वर ने जब ईश्वर की शपथ लेकर कहा
वह ईश्वर नहीं है
मुझे पक्का यकीन हो गया
वह एक दिन चुनाव जरूर जीतेगा

शपथ

मैं ईश्वर की शपथ लेकर कहता हूं
मैं कोई तानाशाह नहीं हूं
मैं संविधान की कसम खाकर कहता हूं
मैं कोई हत्यारा नहीं हूं
मैं सत्य निष्ठा की सौगंध खाकर कहता हूं
मैंने कभी कोई दंगा नहीं किया
तुम मुझे अपने इतिहास में तानाशाह भले ही मानो
मैं तो तुम्हारे बच्चों की किताबों में
बस एक नया जादूगर हूं

शोकसभा का पंजीकरण

मैं जिस शोकसभा में गया
उसका किया था
एक प्रधानमंत्री ने बाकायदा उद्घाटन
मैं जिस शोकसभा में गया था
उसमें सबसे पहले
एक तिरंगा भी फहराया गया था
शोकसभा के सबसे सुंदर वक्ता को
शोकसभा के अंत में
पुरस्कृत भी किया गया
शोकसभा के अंत में घोषणा की गई
जो कोई चाहता है
अपनी शोकसभा
वह चुनाव से करा ले अपना
पंजीकरण

(जंगल में फिर आग लगी है संग्रह से साभार)

सामयिक वार्ता

अक्टूबर 2020, वर्ष 43, अंक : 8

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक

संपादक : अफलातून

संपादन सहयोग
प्रो. बलबीर जैन, अरविन्द मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन, सत्येन्द्र रंजन, प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, प्रो. महेश विक्रम सिंह, लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, चंचल मुखर्जी, कमल बनर्जी, संजय भारती

परामर्श मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा, प्रो. कश्मीर उप्पल, स्मिता

रूप सज्जा : राम सिंह

कार्यालय : 20ए, समसपुर जागीर, पांडवनगर, दिल्ली-110091

ईमेल : varta3@gmail.com, sjp.delhistate@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति	:	20 रुपए
वार्षिक शुल्क	:	200 रुपए
संस्थागत वार्षिक शुल्क	:	300 रुपए
छह साला शुल्क	:	1000 रुपए
आजीवन शुल्क	:	3000 रुपए

खाता नाम : सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा : सोनारपुरा, वाराणसी (उ.प्र.)
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या : 40170100005458
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहां दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं, S के बाद o (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
(इस खाते में पैसे जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना ई-मेल अथवा मोबाइल 08765811730/ 08004085923 पर दें।)

संपादकीय

महामारी की सियासत

सत्ता की लिप्साएं और लापरवाह बौड़म नेतृत्व प्राकृतिक आपदाओं के दौरान कितना जानलेवा साबित हो सकता है, इसका ज्वलंत उदाहरण दुनिया में एक हमारा देश भी है। यह कोई रहस्य नहीं रह गया है कि दुनिया भर में जिन-जिन देशों में सर्वसत्तावादी और धुर दक्षिणपंथी हुकूमतें हैं, वहां कोविड-19 महामारी का प्रकोप सबसे अधिक फैला। ऐसे कई देशों की गिनती हो सकती है लेकिन भारत, अमेरिका, ब्राजील ने तो वाकई कमाल किया है, जिनके सत्तारूढ़ नेतृत्व ने सत्ता के मद में महामारी के प्रति आपराधिक लापरवाही दिखाई और लोगों को खुद भुगतने के लिए लगभग निहत्था छोड़ दिया। ये लापरवाहियां कैसे की गईं और किस कदर झूठ, दुष्प्रचार, आंकड़ों को छुपाने और गलतबयानी करने, भ्रामक व्याख्याएं करने, दूसरों पर दोष थोपकर समाज को बांटने के तरीके अपनाए गए, वह किसी से न छुपा है, न बहुत दोहराने की दरकार है। फिर भी अपने देश के घटनाक्रम पर संजीदगी के साथ गौर करने और भयानक नतीजों को दर्ज करना बेहद जरूरी है, ताकि हम जान सकें कि सत्ता लिप्साएं कैसे देश और लोगों के जीवन से खिलवाड़ करने से बाज नहीं आतीं।

लगभग दिसंबर के मध्य में जब यह खबर खुली कि चीन के वुहान में किसी जानलेवा विषाणु (वायरस) का प्रकोप फैल रहा है तो पहले चीन ही उसे छुपाए रखा और विश्व स्वास्थ्य संगठन के कर्ताधर्ता भी उसे महामारी मानने को तैयार नहीं थे। विश्व स्वास्थ्य संगठन पर चीन के असर के आरोप भी उछले। यहां यह जाहिर करना जरूरी है कि चीन न सिर्फ अलोकतांत्रिक देश है, बल्कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के तहत उसके मौजूदा हुक्मरानों में निहायत पूंजीवादी और सर्वसत्तावादी रुझान सिर चढ़कर बोल रहा है। जनवरी तक हालात बेकाबू होने लगे तो मध्य जनवरी में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे दुनिया भर में चेतावनी जारी की। लेकिन तब तक भारत समेत दुनिया के कई देशों में चीन खासकर वुहान से आप्रवासियों, सैलानियों और छात्रों का अपने स्वदेश की ओर आना शुरू हुआ। भारत में तब तक हवाई अड्डों पर भी कोई खास सुरक्षा की व्यवस्था नहीं थी और केंद्र सरकार कह रही थी कि भारत में महामारी का कोई खतरा नहीं है जबकि 30 जनवरी को कोविड-19 से पहली मौत दर्ज हो चुकी थी। 31 जनवरी को ही विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे वैश्विक संकट घोषित किया, इस बीच सरकार फरवरी के आखिर में अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप की आगवानी में व्यस्त थी। गुजरात के अहमदाबाद में लाखों लोगों की भीड़ में उनका भव्य स्वागत हुआ, जो बाद में कोविड-19 के वायरस को एक तरह से बुलावा साबित हुआ। अहमदाबाद एक वक्त सबसे अधिक प्रकोप वाले शहरों में रहा। लेकिन मार्च के मध्य तक केंद्र सरकार यही दलील देती रही कि महामारी का देश में कोई खास खतरा नहीं है। फिर मध्य प्रदेश में 'ऑपरेशन कमल' शुरू हुआ और ज्योतिरादित्य सिंधिया के साथ 22 विधायकों को तोड़कर पंद्रह महीने पहले बनी कांग्रेस की कमलनाथ सरकार को गिराकर भाजपा के शिवराज सिंह चौहान की सरकार बनाने में ही भाजपा नेतृत्व मशगूल रहा। इस बीच संक्रमण बढ़ने के खतरे के संकेत मिलने शुरू हो गए। तब अचानक 23 मार्च की रात आठ बजे प्रधानमंत्री ने देशव्यापी सख्त तालाबंदी (लॉकडाउन) का ऐलान रात बारह बजे से कर दिया। समूचे देश में कर्फ्यू लगा दिया गया। सब कुछ ठप हो गया। पुलिसवाले सख्ती से लोगों को घरों में बंद रखने के लिए डंडा भांजने लगे। अंग्रेजी राज के महामारी रोग कानून और 2005 के आपदा प्रबंधन कानून के तहत समूचे देश का नियंत्रण केंद्र सरकार के तहत आ गया। प्रधानमंत्री ने ऐलान किया कि महाभारत 18 दिन तक चला था और देश यह लड़ाई 21 दिनों में जीत लेगा। उन्होंने लोगों से थाली-ताली बजाकर और दीये जलाकर इस लड़ाई में विजय का आह्वान किया। लेकिन यह नहीं सोचा कि करोड़ों मजदूरों का क्या होगा, जो रोजाना कमाने-खाने को मजबूर हैं। रोजगार बंद हो गया तो उन्हें खाने के लाले पड़ने लगे। न उनके पास रहने को ऐसी जगह होती है, जहां वे दिन काट सकें।

ऐसे में एक दूसरी महा त्रासदी का सूत्रपात हुआ, जिसे देश ने बंटवारे के वक्त ही देखा था। दिल्ली, मुंबई, बेंगलूरू, चेन्नै, अहमदाबाद, सूरत जैसे शहरों और पंजाब, हरियाणा, आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र जैसे शहरों से बड़ी संख्या में गरीब-गुरबों का अपने गांव-घर की ओर जाना शुरू हुआ। ये ज्यादातर लोग बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड, बंगाल, ओड़िशा जैसे राज्यों में अपने गांव की ओर लौट रहे थे। रेल और यातायात के सभी साधान बंद थे इसलिए ये लोग हजारों किलोमीटर की यात्रा पैदल ही नाप रहे थे। भूखे-प्यासे इनमें से सैकड़ों लोगों ने दुर्घटनाओं और रास्ते की थकान से दम तोड़ बैठे। सरकार के पास तो ऐसे मरने वालों का कोई आंकड़ा ही उपलब्ध नहीं है, जैसा कि उसने सुप्रीम कोर्ट और संसद में बताया। कुछ स्वतंत्र संस्थाओं ने ऐसे मरने वालों की संख्या 1800-2000 के बीच आंकी है। इसमें बाद में चलाई गईं श्रमिक स्पेशल ट्रेनों में भी मौत है, जो 30-40 घंटे देर से गंतव्य पर पहुंचीं। वह भी ऐसा आपराधिक नजारा था, जिसकी मिसाल शायद ही ढूंढे मिले। मुंबई से उत्तर प्रदेश और बिहार आने वाली ट्रेनें आंध्र, ओड़िशा से होकर लगभग 1500-2000 किलोमीटर का अतिरिक्त चक्कर काटकर गंतव्य पर पहुंच रही थीं। इसकी जवाबदेही भी किसी की नहीं थी। रेल विभाग और सरकार ने यह कहकर हाथ झाड़ लिया कि पटरियां खाली न होने से रेलगाड़ियों को घुमाना पड़ा।

शर्मिंदा होने के लिए जैसे यही काफी नहीं था, लगातार कोविड संक्रमण के आंकड़ों को प्रतिशत और तरह-तरह की दरों के जरिए कमतर बताया जाता रहा, जबकि आज देश दुनिया में अमेरिका के बाद दूसरे नंबर पर संक्रमण का शिकार है और मौत की संख्या भी घटने का नाम नहीं ले रही है। ऐसे में टीका को लेकर भी लगातार झूठी दिलासा देने वाली खबरें चलाई जाती रहीं। सरकार ने मुख्यधारा की मीडिया, टीवी चैनलों और अखबारों पर ऐसा दबदबा कायम कर लिया है कि वे सिर्फ सरकारी खबरें ही दिखाते हैं। लेकिन ऐसा करके भी सरकार मस्त है क्योंकि उस पर सवाल उठाने वाला कोई नहीं। मीडिया तो शरणागत है और जो शरणागत नहीं हैं, उन्हें राजद्रोह जैसे मुकदमे झेलने पड़ रहे हैं और प्रवर्तन निदेशालय (ईडी), आयकर विभाग (आइटी), सीबीआइ जैसी एजेंसियों का सामना करना पड़ रहा है। विपक्ष भी मोटे तौर पर लगभग इन्हीं वजहों से जबान सिले हुए है या कुछ बोलने की भी कोशिश करते हैं तो वह खबर नहीं बन पाती है। वैसे भी विपक्ष ने सड़कों पर उतरना छोड़ दिया है और वह फेसबुक, ट्विटर जैसे माध्यमों तक ही अपना राजनैतिक दायित्व निर्वहन कर रहा है।

जाहिर है, कोविड से निपटने में सरकार की कोई रुचि नहीं है, बल्कि वह उसके बहाने लोगों पर भयंकर तबाही लाद चुकी है। तालाबंदी से लोगों की रोजी-रोटी छिन गई, करोड़ों लोग बेरोजगार हो गए। अर्थव्यवस्था रसातल में पहुंच गई। इस साल आर्थिक वृद्धि की दर शून्य से 23 फीसदी नीचे पहुंच गई है। वह भी सरकारी आंकड़ों के हिसाब से ही, जिसे बेहतर बताने के लिए पैमाना ही बदल दिया गया था। बेरोजगारी की दर 45 साल में सबसे ज्यादा है। फिर भी अजीब-सा सन्नाटा देखकर आश्चर्य होता है। यह बताता है कि निरंतर सरकार और सरकारी मशीनरी की ताकत कैसे बढ़ती गई है और लोगों की ताकत लगातार घटती गई है। यह न हमारे लोकतंत्र के लिए ठीक है, न ही देश के आम जन के लिए। सभा, जुलूस पर पाबंदी लगी हुई है। ऐसे माहौल में सरकार को मानो जुल्म ढाने का और मौका मिल गया। उसने इसी माहौल का लाभ लेकर श्रम कानून बदल दिए। अब किसी को भी कभी भी नौकरी से निकाला जा सकता है, मनमाफिक वेतन दिया जा सकता है। मजूदरों का ही नहीं, किसानों के हक भी सरकार ने छीनने का यही मुफीद मौका समझा। कृषि से संबंधित तीन कानून इसी दौरान पास किए गए, जो नए कंपनी राज की गुलामी के सबब बन सकते हैं। इन कानूनों के जरिए कंपनियों को मनमर्जी दाम पर किसानों की उपज खरीदने, उनके खेत ठेके पर लेने, मनमाफिक भंडारण करने की छूट दी गई है। कंपनियां न्यूनतम समर्थन मूल्य देने को बाध्य नहीं होंगी। इसके खिलाफ पंजाब, हरियाणा जैसे राज्यों में किसानों के धरने आज भी कायम हैं। किसानों का देशव्यापी बंद भी हुआ लेकिन इस सरकार पर इन बातों का कोई फर्क नहीं पड़ता।

इस तरह महामारी तो मौजूदा सरकार के लिए तो जैसे वरदान बनकर आई। वह देश के लोगों के लिए अभिशाप भले हो मगर सरकार को अपने पूंजीवादी और सर्वसत्तावादी एजेंडे को लागू करने का जैसे मौका मुहैया करा गई। तो, सरकारी फितरत को महज लापरवाही या आपराधिक लापरवाही कहना भी कमतर करके बताना है। देश में तालाबंदी के लिए एक दलील यह दी गई थी कि चरमराते स्वास्थ्य ढांचे को सुधारने की मोहलत मिल जाएगी लेकिन अस्पतालों की हालत कितनी सुधरी और निजी अस्पतालों ने कैसी बेरोकटोक लूट मचाई है, यह कोई रहस्य नहीं है। इसलिए लोगों को सोचना चाहिए और सरकार को जवाबदेह बनाने के तरीके तलाशने चाहिए। ■

मांग सृजन के नाम पर अफसरशाहों को 36 हजार करोड़ का तोहफा

महामारी-जन्य महामंदी से जूझने के लिए इसके लिए मांग प्रोत्साहन (डिमांड स्टिम्युलस) की जरूरत हैं और यह जरूरत एक राजकोषीय (फिसकल) पैकेज से ही पूरी की जा सकती है। पर सरकार की नीति इस के अनुरूप नहीं है, इस महासंकट के छह माह बीत गए है और इस दौरान आपूर्ति प्रोत्साहन (सप्लाई स्टिम्युलस) पर आधारित सरकारी पैकेज अप्रभावी साबित हो चुका है।

अब सरकार राजकोषीय पैकेज की तरफ कदम उठाती दिख रही है और वित्तमंत्री ने 12 अक्टूबर को 73 हजार करोड़ रुपये के पैकेज की बाकायदा घोषणा भी कर दी है। देश में महामारी और महामंदी के दोहरे अभिशाप और सरकारी नीतियों की नाकामयाबी से गरीबी का सैलाब बढ़ता ही जा रहा है और इस कारण यह उम्मीद थी कि यह पैकेज सबसे जरुरतमंद गरीब तबकों को लक्षित करेगा। पर इस पैकेज के जरिये अफसरशाहों में तोहफे बांटे जा रहे हैं।

सरकारी कर्मचारियों को लीव ट्रैवल कंसेशन को उपभोक्ता कूपनों के जरिये भुनाने की एक नई सुविधा दी जा रही है जिस पर सरकारी खजाने पर 36 हजार करोड़ रुपये का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। यह सब मांग सृजन के नाम पर हो रहा है, पर क्या सोशल डिस्टेसिंग के माहौल में ऐसा होगा? ये कूपन तो रोजमर्रा के खर्चों की जगह इस्तेमाल किए जा सकते हैं और इस तरह इन 36 हजार करोड़ रुपयों से बैंक खातों में जमा राशि में बढ़ोतरी की संभावना ही ज्यादा है। महामंदी से जूझने के लिए यह नीति किसी तरह से भी उपयुक्त नहीं है।

महामंदी से कारोबारी आमदनी घटने से कई प्रतिष्ठान अपना अस्तित्व बचाने के लिए खर्चे घटा रहे हैं। करों की उगाही घटने से सरकारी राजस्व में भारी गिरावट आई है और इन हालात में इस तरह के बेतुके सरकारी खर्चे बढ़ाना एक बहुत ही गैरवाजिब कदम है। आज के हालात में गरीबजनों में क्रयशक्ति की बढ़ोतरी ही मांग सृजन के लिए सबसे माफिक कदम हो सकता है पर इस दिशा में सरकारी उदासीनता स्पष्ट दिखती रही है।

बढ़ता ही जा रहा है प्रदूषण का खतरा

अक्टूबर का महीना आते ही प्रदूषण की सुई घूमने लगती है। अब अखबार भी रोज का हवा इंडेक्स छापने लगे हैं। रोज का प्रदूषण कितना है, इसकी जानकारी अब हर दिन लोगों को मिल रही है। प्रदूषण बढ़ने के कई कारण हैं। सरकारें तो पराली जलाने को महत्वपूर्ण कारण मानती है। लेकिन क्या सच में यह बात सही है। क्या इससे पहले किसान पराली नहीं जलाते थे। हो भी सकता है कि हवा को खराब करने में पराली का जलाया जाना महत्वपूर्ण कारण हो। लेकिन पराली तो अक्टूबर महीने में जलती है, इसका असर पूरे साल क्यों रहता है? महानगरों की हवा वर्ष में एक-दो महीने साफ रहती होगी, ऐसी संभावना है। सालभर तो पराली का असर नहीं रहता होगा तो फिर दूसरा और क्या कारण हो सकता है? मेरे अनुसार तो महानगरों के लोग अपना जीवन खुद ही खतरे में डाल रहे हैं। अपने आसपास की आबोहवा को प्रदूषित करने में मनुष्य खुद ही जिम्मेदार है। दौड़भाग वाली जिंदगी, ढेर सारा धन कमाने की लालसा और तमाम सुख-सुविधा हासिल करने के एवज में अपने जीवन को नर्क बना रहे हैं। क्या ऐसा संभव नहीं है कि लोग गाड़ियों का इस्तेमाल कम से कम करें। एयर कंडीशन

में रहने की आदत से शरीर में रोग-प्रतिरोधक क्षमता की कमी होती है। क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि मनुष्य अपनी सुविधा को कम करें। एयरकंडीशन की बजाय पंखे और कूलर की हवा से काम चलाएं।

प्रदूषण की वजह से पिछले साल 1.16 लाख से ज्यादा बच्चों की मौत जन्म के एक महीने के भीतर हो गई। यह दावा स्टेट ऑफ ग्लोबल एयर नामक रिपोर्ट में किया गया है। रिपोर्ट कहती है कि प्रदूषित हवा की वजह से गर्भवती महिलाओं के बच्चे पर अधिक असर पड़ता है। समय से पहले डिलीवरी या जन्म होते ही बच्चे का वजन कम होने के पीछे प्रदूषण ही बड़ा कारण है। बच्चों की असमय मौत और अगर जिंदा रहे तो उनके पूरे जीवन पर प्रदूषण का बुरा प्रभाव रहता है। हाई ब्लड प्रेशर, तंबाकू का सेवन और खराब आहार के बाद समय से पूर्व मौत का चौथा प्रमुख कारण वायु प्रदूषण ही है।

खबरों पर नजर डाली जाए तो 27 अक्टूबर को बुलंदशहर में भी पराली जलाने पर दो किसानों पर रिपोर्ट दर्ज हुई। एफआईआर दर्ज करवाने और जुर्माना लगाने की कार्रवाई चल रही है। इसके बावजूद किसान धान की पराली में आग लगाने से बाज नहीं आ रहे हैं। इस तरह के तमाम मामले हरियाणा, पंजाब और यूपी के किसानों पर दर्ज किए जा रहे हैं।

किसानों पर तो मामले दर्ज किए जा रहे हैं, लेकिन उनका क्या जो बड़ी-बड़ी गाड़ियों में अकेले ही चलते हैं। सत्तासीन और प्रभावशाली लोगों को भी यह बात समझनी होगी कि कम से कम

संसाधन में अपना जीवन चलाने का प्रयास करें। एयर कंडीशन में न रहने की बजाय पंखे और कूलर में रहने की आदत बनाएं। सर्दियों में ठंढ बर्दाश्त करने का जज्बा पाले। कार या घरों में गर्म हवा देने वाली एसी को न चलाएं। प्रकृति से जितना खिलवाड़ होगा, जीवन उतना ही नारकीय बनता जाएगा।

राजधानी दिल्ली और उसके आसपास का इलाका तो बेहद खतरनाक होता जा रहा है। 24 अक्टूबर को हवा की क्वालिटी बताने वाला सूचकांक 401 से ज्यादा रहा, जो बेहद खराब है। राजधानी और उसके आसपास की हवा आठ महीने में 24 अक्टूबर को सबसे खराब रही। इस विकटतम स्थिति से कैसे निपटा जाए, इसका उपाय किसी के पास नहीं है। दिल्ली सरकार की ओर से छोटे-मोटे प्रयास जरूर किए जा रहे हैं। लेकिन इस तरह के प्रयास नाकाफी हैं।

लॉकडाउन के बाद घर से काम करने का जो तरीका ईजाद हुआ है, उसे बरकरार रखना चाहिए। जो कार्य घर से हो सकें, ऐसे लोगों को जबरदस्ती कार्यालय बुलाने का जोखिम नहीं उठाना चाहिए। सार्वजनिक वाहनों की सुविधा बढ़ानी चाहिए। लोगों को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि दिखावे के चक्कर में गाड़ी का बेजा इस्तेमाल न करें। सार्वजनिक वाहनों का अधिक से अधिक उपयोग करें।

प्रदूषण की वजह से हवा का खराब रहना एक बड़ी समस्या है। महानगरों में तो यह समस्या विकराल होती जा रही है। ऐसे में इससे निपटने के लिए कोई ठोस उपाय भी नहीं दिख रहा है। होगा भी कैसे, प्रकृति से छेड़छाड़ का मतलब ही है-विनाश की तरफ जाना। अभी भी समय है, लेकिन हम सबको प्रण लेना होगा कि बिना आवश्यकता के किसी भी संसाधन अथवा सुख-सुविधा का दुरुपयोग नहीं करेंगे। अगर ऐसा न हुआ तो हम अपने विनाश की लीला खुद ही रच रहे हैं।

स्वस्थ रहने की चुनौती

कौन नहीं चाहता कि वह स्वस्थ न रहे। दुनिया का हर वो इंसान अपने आपको फिट देखना चाहता है। लेकिन सिर्फ चाहने से नहीं स्वस्थ रहने के लिए नियमित शारीरिक अभ्यास और अपनी जिह्वा पर काबू रखने की जरूरत होती है। सवाल है कि क्या लोग ऐसा कर पाते हैं? नहीं, बिल्कुल नहीं। पूरे संसार में मुश्किल से थोड़े-बहुत लोग ही शायद इन बातों पर अमल कर पाते हैं।

हम स्वस्थ रहे, यह हम पर ही निर्भर करता है। यदि हमें और अपने परिवार के लोगों को स्वस्थ रखना है तो हम सभी को दिनभर में तीन-चार बार साबुन से हाथ अवश्य धोने चाहिए। यदि आप अपने को स्वस्थ रखना चाहते हैं तो कुछ कार्यों को करने के बाद हाथों को साबुन से धोना न भूलें।

व्यक्ति अपना नित्य कार्य समय पर नहीं कर रहा है, इसकी वजह से मोटापा एक भयंकर समस्या बन चुकी है। मोटापा ही नहीं थायराइड, गठिया, मधुमेह, कैंसर जैसी तमाम तरह की बीमारियों से जूझ रहे हैं। इसके अलावा अब तब कोरोना वायरस से बचना किसी चुनौती से कम नहीं है। यह सभी बीमारियां व्यक्ति की अपनी कमी की वजह से पैर पसार रही है। आमतौर पर देखने को मिलता है कि अधिकांश घरों में सब्जी को बनाते समय अधिक तेल-मसाले का इस्तेमाल करते हैं। यह जानते हुए भी ज्यादा तेल-मसाले शरीर को नुकसान पहुंचाते है और बीमार कर देते हैं।

समय पर और सही भोजन कर पाना एक चुनौती बन चुका है। अधिक सुख-सुविधा पाने की लालसा में व्यक्ति जरूरत से ज्यादा व्यस्त हो गया है या अपने को आलसी बना चुका है। बदलते मौसम में बीमारियां फैलने का खतरा बना रहता है।

अवैध तरीके से शहरीकरण का फैलाव मानव के लिए कष्टकारी बनता जा रहा है। अवैध कॉलोनियों का दिनोंदिन विस्तार होता जा रहा है। बहुमंजिली सोसायटी का निर्माण निरंतर हो रहा है। लगातार निर्माण कार्य होते रहने से पानी का जमाव भी बना रहता है, जिससे मच्छर पैदा होते हैं। मच्छरों से फैलने वाले वायरस में समय के साथ दवाइयों को लेकर प्रतिरोधक क्षमता भी विकसित हो गई है।

भारत में मच्छरों से निपटने के लिए आम तौर पर कीटनाशक दवा के छिड़काव का सहारा लिया जाता है। ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि यह तरीका कारगर है लेकिन इससे सिर्फ व्यस्क मच्छरों पर ही असर होता है मच्छरों के लार्वा पर असर नहीं होता।

इन सबके बावजूद समाज में चेतना का अभाव है। इस ऐंठन भरे समाज का ही दोष है कि साफ-सफाई के मामले में हम बहुत पीछे है। जबकि यह सभी जानते हैं कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क होता है। यह तभी हो सकता है जब हम अपने खान-पान पर नियंत्रण रख सके। आजकल फास्ट फूड खाने वालों की संख्या में निरंतर इजाफा हो रहा है, यह जानते हुए भी कि यह फास्ट फूड स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अंकुरित भोजन करने से काया निरोगी होती है, यह सबको पता है, लेकिन देश में बहुत कम ही लोग होंगे, जो अंकुरित भोजन करते होंगे। व्यक्ति को स्वाद की चिंता अधिक है, लेकिन स्वास्थ्य की नहीं। यदि वह स्वास्थ्य की चिंता करने लगेगा तो बीमारी उससे कोसों दूर रहेगी। जिस दिन से देशवासी अपने स्वास्थ्य के बारे में सोचने लगेंगे, उसी दिन से स्वच्छ भारत-स्वस्थ भारत का सपना साकार होता दिखाई देने लगेगा। ■

वार्ता के सभी ग्राहकों-पाठकों से निवेदन है कि अगर आपके पास ईमेल आईडी या व्हाट्स ऐप नंबर है तो कृपया उपलब्ध करा दीजिए ताकि आपको वार्ता ऑनलाइन भेजी जा सके। आप अपनी ग्राहकी का नवीकरण भी करा लें। प्रकाशित वार्ता डाक से भेजी जाएगी। इसके साथ ही वार्ता को आर्थिक सहायता देने में सहयोग करें।

मानव सभ्यता में महामारियों का दौर

डॉ. करुणा झा

मानव स्वभाव और सभ्यता के अंतर्निहित व्यक्तिगत और सामुदायिक उद्देश्य हैं- जीवन को अच्छे स्वास्थ्य से भरपूर और ज्यादा से ज्यादा लम्बा बनाना; साथ ही अपनी प्रजाति की संख्या बढ़ाना। बीमारियां इन दोनों उद्देश्यों के पूरा होने में बाधक होती है।

समाजों और देशों के अन्य अवयवों यथा आर्थिक विकास, सामाजिक-आर्थिक समता, शिक्षा, हुनर, सामाजिक शांति, सक्षम शासन व्यवस्था भी इन उपर्लिखित दो उद्देश्यों की प्राप्ति में कारक हैं। स्वास्थ्य और बीमारियों सहित ये सारे कारक एक दूसरे की प्राप्ति में 'कारण-परिणाम- कारण' के रूप में काम करते हैं। इसलिए इन सभी अवयवों के अलग-अलग तथा सामूहिक अध्ययन दोनों की जरुरत है।

जब से मानव जीवन धरती पर आया है, संभवतः उसी समय से संक्रामक बीमारियां होती रही है। इस लेख मे हम केवल श्वास से फैलने वाली संक्रामक महामारियों की चर्चा करेंगे। इन बीमारियों को सामूहिक रूप से इंफ्लुएंजा या फ्लू कहा जाता है। हम भी उनका इसी नाम से उल्लेख करेंगे।

वैदिक काल में भी गंभीर श्वास की तकलीफों का वर्णन पाया गया। ई.पू. 400 वर्ष पहले, हिप्पोक्रेट्स के द्वारा लिखे गए रोगों के वर्णन में इन्फ्लुएंजा जैसी बीमारियों का उल्लेख पाया गया है। 11वीं सदी तक के लम्बे अंतराल में ऐसी बीमारियों का सिलसिलेवार लिखित प्रमाण नहीं मिल पाया। 12वीं सदी में यूरोप के अलग-अलग हिस्से में फ्लू जैसी संक्रामक बीमारियों का उल्लेख पहली बार मिला है, जो साल दो साल में संक्रामक रूप से फैला करती, पर महामारी का रूप नहीं लेती थी। 14वीं सदी में 1386-87 में पूर्वी यूरोप में यह संक्रमण ज्यादा व्यापक रूप से फैला, जिसमें बुजुर्ग और कमजोर लोग काफी बड़ी संख्या में इसके शिकार हुए। इटली में पहली बार ऐसे संक्रमण के लिए 'इन्फ्लुएंजा' शब्द का इस्तेमाल किया गया।

15वीं सदी में पूरे फ्रांस में कई बार इनके संक्रमण का दौर आया। जिसमें कमजोर और बुजुर्गों के अलावा गर्भवती महिलाओं का गर्भपात हो जाने का उल्लेख है। 16वीं सदी के आरंभ में फैली इन्फ्लुएंजा ने महामारी का रूप ले लिया और पूरे एशिया से लेकर टर्की ऑटोमान साम्राज्य होते हुए उत्तरी अफ्रीका और बाद में पूरे यूरोप और अमेरिका को संक्रमित कर दिया। इसमें बुजुर्ग बीमारों के अलावा छोटे बच्चों के मरने की संख्या भी काफी थी। काफी बड़ी संख्या में गर्भवती महिलाएं भी इसके चपेट में आईं।

16वीं सदी के आरंभ में फैली इन्फ्लुएंजा ने महामारी का रूप ले लिया और पूरे एशिया से लेकर टर्की ऑटोमान साम्राज्य होते हुए उत्तरी अफ्रीका और बाद में पूरे यूरोप और अमेरिका को संक्रमित कर दिया। इसमें बुजुर्ग बीमारों के अलावा छोटे बच्चों के मरने की संख्या भी काफी थी।

इसके पचास वर्ष बाद, 1557-58 में फैले फ्लू की महामारी के विस्तृत लिखित प्रमाण मौजूद हैं। यह संक्रमण काफी व्यापक, घातक और तेजी से एशिया से शुरू होकर पूरे अमेरिका में फैल गया। पुनः 1580 का फ्लू संक्रमण एशिया से शुरू होकर अफ्रीका और यूरोप में फैला, जिसमें सिर्फ रोम में 8000 मौतें हुई और स्पेन के कई शहर लगभग समाप्त हो गए थे। सत्रहवीं सदी में भी कई बार संक्रमण हुए। 18वीं सदी में इनफलुएंज़ा की दो महामारियां उल्लेखनीय हैं, जिनके लिखित दस्तावेज हैं। पहला संक्रमण 1761 की गर्मी में, अमेरिका से शुरू हुआ, यूरोप में फैलता हुआ 1762 तक पूरे विश्व में फैल गया।

उस समय पहली बार सभी पश्चिमी देशों के वैज्ञानिकों, शोधकर्मियों और चिकित्सकों ने मिलकर संक्रमण का व्यापक अध्ययन किया और आपस में संवाद स्थापित किए, जर्नल्स में अपने

अनुभव, अवलोकन और शोध साझा किए। इस अध्ययन के आधार पर ही इन्फ्लुएंजा जैसे संक्रमण के बारे में गहन जांच कर इसके कारक, कारण साथ ही इससे बचाव, रोकथाम और इलाज के लिए चिकित्सा विज्ञान की एक नई शाखा 'रोग विज्ञान' की स्थापना पर निर्णय हुआ।

फ्लू का दूसरा संक्रमण, 1780-82 में हुआ, वह भी काफी तेज था, जो दक्षिणी पूर्वी एशिया से शुरू होकर रूस होते हुए पूरे यूरोप में फैल गया। 19वीं सदी (1830-33) के फ्लू ने एक विश्वव्यापी महामारी का रूप ले लिया। यह जाड़े के मौसम में चीन से शुरू होकर समुद्र मार्ग से फिलिपीन्स, भारत, इंडोनेशिया, रूस होते हुए यूरोप में फैल गया और जल्द ही अमेरिका को भी चपेट में ले लिया। उसमें दुनिया की 25% जनसंख्या संक्रमित हो गई, पर अच्छी बात यह थी कि इसमें मृत्यु दर कम थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के दो महान वैज्ञानिकों लुई पास्तर (1822-1895) और रॉबर्ट कॉक (1843-1910) के शोध ने बीमारियों के रोगाणु सिद्धांत की स्थापना की। उन्होंने तथा कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने अनेकों बीमारियों के कारक रोगाणुओं की खोज इस जीवाणु विज्ञान के स्वर्णिम काल में की। उनके द्वारा स्थापित सिद्धांत के बाद महामारियों के कारक रोगाणुओं की पहचान के साथ ही उनके रोकथाम के तरीके तेजी से विकसित हुए। 1882 में पहली बार फ्लू को विषाणु -जनित संक्रामक रोग की पहचान मिली।

1878 में पहली बार इटली में तेजी से फैले फ्लू संक्रमण का पक्षियों से होने वाली कड़ी पर गौर किया और इसे एवियन फ्लू या फाउल प्लेग का नाम दिया गया। 19वीं सदी में पक्षियों के द्वारा होने वाली ऐसी ही दो व्यापक महामारियों के दस्तावेज उपलब्ध है। 1889 से 92 तक फैला संक्रमण रूस के सेंट पीटर्सबर्ग से शुरू होकर यूरोप और अमेरिका के विभिन्न देशों के 408 अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में फैल गया। 70 दिनों में यह पूरे विश्व में फैल गया था। इसके बाद पुनः दुनिया के चिकित्सा वैज्ञानिक और शोधकर्ताओं ने मिलकर इस पर विशेष अध्ययन किया।

1901 में लम्बे शोध के बाद इन्फ्लुएंजा के विषाणु का पता चल गया।

1918-1920 में एच1एन1 नाम के विषाणु का संक्रमण हुआ जो अब तक के मानव इतिहास की सबसे घातक महामारी माना गया है। यह अत्यंत तेजी से पूरी दुनिया में फैल गया। इससे दुनियाभर में 50 करोड़ से ज्यादा लोग संक्रमित हुए और 10 करोड़ से ज्यादा लोग मर गए। इसे अब तक के मानव इतिहास का सबसे बड़ा 'मेडिकल विध्वंस' कहा गया है। 1918 के फरवरी से 1920 के अप्रैल-मई तक के दौरान इसका संक्रमण चार लहरों में आता जाता रहा और इसने पूरी दुनिया को चपेट में ले लिया था। संक्रमण की प्रत्येक लहर पिछली वाली लहरों से ज्यादा घातक थी।

19वीं सदी में पक्षियों के द्वारा होने वाली ऐसी ही दो व्यापक महामारियों के दस्तावेज उपलब्ध है। 1889 से 92 तक फैला संक्रमण रूस के सेंट पीटर्सबर्ग से शुरू होकर यूरोप और अमेरिका के विभिन्न देशों के 408 अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में फैल गया।

इस संक्रमण की शुरुआत सम्भवतः अमेरिका के न्यूयार्क, कैन्सास, यूरोप में फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड में हुई, परंतु तब चल रहे प्रथम विश्वयुद्ध की वजह से इन देशों ने इस बीमारी को अनदेखा कर दिया। इसकी सूचना युद्ध से मुक्त देश स्पेन के अखबारों ने विस्तार में दुनिया के सामने रखा और अपने राजा अलफोंसो XIII के फ्लू से गंभीर रूप से पीड़ित होने की खबर भी फैला दी, नतीजतन इस एच1एन1 फ्लू महामारी का नामकरण ही 'स्पैनिश फ्लू' हो गया। जबकि पूरा विश्व ही 2 वर्ष 3 महीने तक इससे संक्रमित रहा।

हिन्दुस्तान में स्पैनिश फ्लू या '1918 फ्लू' ज्यादा ही घातक रूप में आया। जून 1918 में विश्वयुद्ध के दौरान पानी मार्ग से आने जाने वाले सैनिकों, हथियारों, रसद आदि को लाने, ले जाने वाले जहाजों के द्वारा संक्रमण का पहला पड़ाव बम्बई हो गया। यहां यह संक्रमण आग की तरह फैला कि इसका नाम ही बम्बई फ्लू पड़ गया। अगस्त 1918 तक यह पूरे अविभाजित हिन्दुस्तान में तेजी से फैल चुका था। इसके संक्रमण की गति जितनी तेज थी; मृत्युदर भी उतनी ही अधिक थी। मात्र अविभाजित हिन्दुस्तान में स्पैनिश फ्लू से मरने वालों की संख्या 1.7 करोड़ से अधिक थी; जो यहां की जनसंख्या का 5% थी। यह मृत्युदर बहुत ही विकराल थी। इसमें बूढ़े, कमजोरों के अलावा 20-40 वर्ष के लोग और विशेषतः महिलाओं की संख्या अधिक थी। उस वर्ष मानसून की बारिश बहुत कम होने की वजह से संक्रमण का प्रकोप और नतीजे और भी गंभीर हो गए। पूरे देश में अकाल पड़ जाने से भूखमरी, कुपोषण, कमजोरी और साथ ही संक्रमण बीमारी के कारण स्थिति बद से बदतर हो गई। पहली बार 1911-1921 के दशक में ब्रिटिश शासित भारत में जनसंख्या वृद्धि घट कर 1.2 प्रतिशत हो गई। कहते है उस समय हिन्दुस्तान की सभी प्रमुख नदियां मानव लाशों से पट गई थी। महात्मा गांधी भी बीमारों की तीमारदारी करते हुए स्पैनिश फ्लू से ग्रसित हो गए थे।

1931 में अमेरिकी विषाणु रोग विशेषज्ञों ने सूअरों में पाए जाने वाले फ्लू विषाणु को खोज निकाला। 1933 में ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने मनुष्यों में होने वाले फ्लू विषाणु की गहन पहचान कर ली। 1936 में सोवियत वैज्ञानिकों ने फ्लू विषाणु के विरुद्ध असरदार टीके का इजाद कर लिया।

1946 में सं. रा. अमेरिका सरकार के स्वास्थ्य विभाग ने जन स्वास्थ्य और फ्लू से सुरक्षा के हेतु 'सेंटर फॉर डिसेज कंट्रोल एंड प्रीवेंशन' की स्थापना की।

इसका काम अमेरिका के साथ ही पूरे विश्व में फ्लू तथा अन्य महामारियों के पूर्वानुमान करना, उनकी रोकथाम और उनसे सुरक्षा के लिए शोधकार्य करना तथा योजनाएं बनाना था। छह वर्ष पहले तक यह संस्था ज्यादा बड़ी, संपूर्ण संसाधन पोषित और सशक्त थी। कई महामारियों को बिल्कुल शुरुआत में ही रोक लेने का श्रेय सीडीसी को दिया जाता है।

1947 में विश्व मेडिकल एसोसिएशन ने सीडीसी के तर्ज पर ही विभिन्न देशों के लिए फ्लू संक्रमण के रोकथाम के लिए योजनाएं बनाने और सरकारों को आगाह करने के लिए इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ फ्री प्रोफेशनल मेडिकल एसोसिएशन बनाया जो फ्लू के टीकाकरण के लिए मुहिम चलाता रहा है। 1947 में ही 'इंफ्लुएंजा बी विषाणु' के विरुद्ध बाईवैलेंट टीके का इजाद कर लिया गया।

1931 में अमेरिकी विषाणु रोग विशेषज्ञों ने सूअरों में पाए जाने वाले फ्लू विषाणु को खोज निकाला। 1933 में ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने मनुष्यों में होने वाले फ्लू विषाणु की गहन पहचान कर ली। 1936 में सोवियत वैज्ञानिकों ने फ्लू विषाणु के विरुद्ध असरदार टीके का इजाद कर लिया।

1948 में विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना हुई। 1952 में डब्ल्यू.एच.ओ. के द्वारा ग्लोब इंफ्लुएंजा सर्विलांस एंड रिस्पांस सिस्टम की स्थापना की गई। यह फ्लू विषाणु पर शोध, इसके विरुद्ध टीके बनाने और विषाणु रोधी दवाओं पर शोध के साथ ही भविष्य में फिर से उभरने या होने वाले महामारियों का पुर्वानुमान लगाने और इसके रोकथाम के उपायों पर कार्यरत है।

1957-58 में फैले एशियन फ्लू ने चीन के गुइझाओ प्रांत से शुरू होकर पूरे चीन में फैलते हुए पूरी दुनिया को चपेट में ले लिया था। यह इंफ्लुएंजा 'ए' विषाणु के प्रकार एच2एन2 के द्वारा हुआ। यह बीसवीं सदी में ही हुए स्पैनिश फ्लू के बाद दूसरी सबसे घातक फ्लू महामारी थी, जिसमें 40 लाख से ज्यादा लोग मर गए।

1959 में पक्षियों के माध्यम से इंफ्लुएंजा-ए-विषाणु के प्रकार एच5एन1 का संक्रमण लोगों में हुआ। इसका संक्रमण मुर्गियों से मनुष्य में काफी तेजी से फैला। 1963 में टर्की पक्षी के माध्यम से वायरस एच7एन3 का संक्रमण हुआ। इस तरह बीसवीं सदी में चार बार फ्लू महामारी फैली; जिसमें 1918 का स्पैनिश फ्लू सबसे घातक था।

इसके बाद ही फ्लू संक्रमण को अत्यंत गंभीरतापूर्वक लेते हुए इस पर गहन शोध कार्य किए गए। फ्लू विषाणु के विरुद्ध टीके तैयार हो गए है। विषाणु रोधी दवाएं आ गई हैं, पर विषाणु के प्रकार में बदलाव हो जाने की वजह से ये बहुत लंबे समय तक कारगर नहीं होती है। इसीलिए प्रतिवर्ष बदले हुए स्ट्रेन के अनुरूप टीके तैयार किए जाते हैं।

21वीं सदी में कुछ और नए तरह के इंफ्लुएंजा के संक्रमण पाए गए हैं- सार्स, मर्स, निपाह, और इबोला आदि। 2002 में चीन से 'सार्स' नामक बीमारी शुरू हुई, यह कोरोना विषाणु के द्वारा होती है। इसमें अचानक तेज सिर दर्द, बदन दर्द, बुखार, सर्दी, खांसी और सांस की दिक्कतों के लक्षण प्रकट होते हैं। यह संक्रमण पूरे चीन होते हुए हांगकांग, सिंगापुर, वियतनाम, ताइवान और कनाडा के टोरंटो तक फैल गया। अगस्त 2003 तक 30 देशों ने तकरीबन 8422 हजार के संक्रमण की रिपोर्ट डब्ल्यू.एच.ओ. को भेजी, जिसमें 916 लोगों की मृत्यु हो गई।

डब्ल्यूएचओ की सक्रियता, विभिन्न देशों के सरकारों और अधिकारियों के साथ समुचित तालमेल, सांस के रोगियों की शीघ्र पहचान, संपर्क में आए लोगों को चिन्हित कर अस्पताल में अलग रखने, हाथों की सफाई और मास्क आदि के इस्तेमाल से यह संक्रमण नियंत्रण में आ गया। साथ ही स्वास्थ्यकर्मियों के लिए उचित बचाव के साधनों (पर्सनल प्रोटेक्शन इक्यूपमेंट-पीपीई) को मुहैया करवाने और शीघ्र ही सभी संक्रमितों की सूचनाएं अधिकारियों को देने से स्थिति में काफी सुधार आया। सबसे आवश्यक कदम अंतरराष्ट्रीय यात्रा और यात्रियों को नियंत्रित और अलग करना था।

2012 में 'मिड्ल-ईस्ट रेसपिरेटरी सिन्ड्रोम या मर्स का संक्रमण हुआ। यह विशेष किस्म की कोरोना वायरस से शुरू हुआ और पशु-पक्षियों जैसे चमगादड़ और ऊंट द्वारा मनुष्यों में फैला। चूंकि सबसे पहले संक्रमण का 'सऊदी अरब- मध्य-पूर्व में पता चला इसीलिए इसे मिडिल ईस्ट रेस्प 'मध्य-पूर्व श्वसन सिंड्रोम' और इसके विषाणु को मर्स कोविड कहते हैं। इसके लक्षण बेहद गंभीर सांस की तकलीफें जैसे तेज खांसी, सांस फूलना, फेफड़ों का संक्रमण, न्युमोनियां आदि हैं। इसमे मृत्यु दर 35% से भी अधिक थी। सूचना मिलते ही डब्ल्यूएचओ ने इसकी छानबीन शुरू कर दी और इसे लोगों के बीच शीघ्र फैलने वाली प्रमुख घातक बीमारियों की श्रेणी में रखा। 2012 से सउदी अरब से शुरू होने वाले मर्स के मरीजों की सूचना आज भी अधिकारियों को दी जाती है। विश्व में इसकी संख्या 2500 हो चुकी है। विषाणुरोधी दवा का इस पर अच्छा असर पाया गया है। इससे संक्रमण तथा मृत्युदर काफी कम हो गई है।

निपाह वायरस का संक्रमण 1998-99 में मलेशिया के एक गांव के कुछ संक्रमित लोगों से शुरू हुआ जो संक्रमित चमगादड़ों और सूअरों के सम्पर्क में आए थे या इनसे संक्रमित फल खा गए थे। फिर मनुष्य से मनुष्य में यह संक्रमण तेजी से फैलने लगा। मलेशिया के एक अनुसंधान समूह ने इस संक्रमण की सूचना दी। इस विषाणु को निपाह वायरस कहा गया। यह संक्रमित व्यक्ति के थूक, लार, खून स्राव आदि से सम्पर्क में आए दूसरे व्यक्ति में फैलता गया।

1998-99 से 2018 तक 701 लोगों में निपाह विषाणु संक्रमण का पता

चल पाया है। यह संक्रमण बेहद घातक है इसमें मृत्युदर करीब 75% तक है। इसमें तेज खांसी, सर दर्द, बुखार के साथ बेहोशी और मिर्गी दौरा पड़ने लगता है। मई 2018 में भारत के केरल राज्य में निपाह वायरस का संक्रमण चमगादड़ों और इसके खाए फलों से फैला। जिसमें 17 लोगों की मृत्यु की पुष्टि हुई। उस समय पक्षियों के खाए फलों को खाने की मनाही हो गई थी। मलेशिया में संक्रमित सूअरों में पाए गए विषाणु से निपाह वायरस की फ्लू फैली। 1999 में वहां लाखों की संख्या में सूअरों को मार डाला गया। इससे बीमारी के फैलाव को रोकने में काफी मदद मिली। डब्ल्यूएचओ की सक्रियता और सहयोग से निपाह नियंत्रण में आ गया है। बचाव के लिए संक्रमित जानवर, पक्षी द्वारा खाए फलों और संक्रमित व्यक्ति के सीधे सम्पर्क से बचना आवश्यक है। शारीरिक दूरी, मास्क का इस्तेमाल और बार-बार हाथ की सफाई जरुरी माना गया।

2014 में डब्ल्यूएचओ ने अत्यंत गंभीर और घातक विषाणु जन्य संक्रमण 'एबोला वायरस डीजीज' (इबीडी) के बारे में सूचित किया, जो सबसे पहले सहारा के दक्षिण के अफ्रीकी देशों में पता चला। इसे दक्षिण सूडान के शहर नाजा तथा द. कांगो की नदी एबोला के किनारे के गांव में पाया गया अतः उसी के नाम से जाना गया। यह बंदर, गुरिल्ला जैसे जानवरों से मनुष्य में पहुंचा फिर मनुष्यों के बीच फैलने लगा। कांगो से फैलकर जायर, लाइबेरिया, और सियोरा लियोने की ओर फैलता गया। यह जानवरों के खून या हवा अथवा मनुष्य के लार, रक्त या फिर शारीरिक सम्पर्क से फैलता गया। इसके लक्षण संक्रमण के 1-2 सप्ताह में प्रकट होने लगते हैं। जैसे तेज सिर दर्द, गला दर्द, मांसपेशियों के दर्द से बढ़ते हुए शरीर के अंदर या बाहर रक्त स्त्राव होने लगना। इसलिए इसे इबोला रक्तस्रावी बुखार भी कहते हैं। इसमें खून की कमी, रक्तचाप के घट जाने से मृत्यु हो जाती। यह अत्यंत घातक साबित हुआ और इसकी मृत्युदर 50-90% पाई गई। डब्ल्यूएचओ ने 1976 से 2012 तक इबोला के 24 ऐसे प्रकोपों को सूचित किया है। जिसमें 2387 संक्रमित मिले, 1590 की मौत हो गई। दिसंबर 2013 से जनवरी 2016 तक दक्षिण अफ्रीका में पुनः इसका घातक संक्रमण हुआ, जिसमें 28,646 लोग संक्रमित हुए और 11,323 मौतें हुई। 2017, 2018 और जुलाई 2019 में भी बार-बार प्रकोप होने पर डब्ल्यूएचओ ने इसे विश्व स्वास्थ्य आकस्मिकी घोषित कर दिया।

अंत में कोविड-19 का परिचय!

21वीं सदी के संक्रमणों की कड़ी में तीसरी है- नोवल कोरोना वायरस 2019। ये तीनों वायरस अपने संरचना की वजह से कोरोना (मुकुट जैसे) कहलाए। परंतु इनमें कई जेनेटिक अंतर हैं। दिसंबर-19 में चीन के हुवेई प्रांत के वुहान शहर से शुरू होकर अत्यंत शीघ्रता से चीन के अनेकों प्रांतों को संक्रमित करते हुए यह एशिया के अंदर और बाहर विश्व के सभी देशों में फरवरी 2020 तक फैल चुका था। फरवरी में ही चीन की सरकार के आंकड़ों के मुताबिक वुहान शहर में ही 42,708 लोग संक्रमित और 1017 लोग मर चुके थे। खोज करने पर पता चला कि यह वायरस चमगादड़ों से फैला है या चमगादड़ों से बिल्लियों में होते हुए मनुष्यों तक फैले है। सार्स समूह की बीमारियों में विषाणु सांस, खांसने, छींकने या सीधे संक्रमित व्यक्ति या वस्तु के सम्पर्क से तेजी से फैलता है। कोविड-19 पिछले सार्सों की तुलना में सबसे तेजी से फैलने वाला संक्रमण है। अच्छी बात है कि इसका मृत्युदर पिछले सार्सों की तुलना में कम है। संक्रमित लोगों को इन प्रकारों में रख सकते हैं।

1. लक्षण रहित 80% से ज्यादा लोग जिनकी प्रतिरोधी क्षमता अच्छी है। लक्षण रहित होने के बावजूद ऐसे सभी लोग दूसरों को संक्रमित कर सकतें हैं। इसमें कुछ लोगों की बीमारी गंभीर हो सकती है।

2. लक्षण सहित- कुपोषित, बुजुर्ग, अन्य बीमारियों जैसे उच्च रक्तचाप, मधुमेह, ह्रदय, फेफड़ा और अन्य बीमारियों से पूर्वग्रसित लोगों में संक्रमण जल्द ही गंभीर हो जाता है। इन्हें अस्पतालों में भर्ती होने, ऑक्सीजन और कभी-कभी वेंटीलेटर की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से कईयों की मृत्यु हो जाती है।

कोविड-19 के लक्षण :

विभिन्न लोगों में कोरोना के भिन्न-भिन्न लक्षण हो सकते हैं

1. 80 प्रतिशत से अधिक संक्रमितों में किसी प्रकार के लक्षण नहीं होते। ये सभी लक्षण-रहित लोग ही ज्यादा संक्रमण फैलातें हैं, ये खुद को स्वस्थ्य मानकर समाज में घूमते-टहलते रहतें हैं। बिना जांच के इनकी बीमारी का पता नहीं चलता।

2. कुछ संक्रमितों में हल्का बुखार, खांसी गले में दर्द या खराश के साथ सांस लेने में थोड़ी दिक्कत।

3. कुछ लोगों में तेज सर्दी, बुखार, पूरे शरीर, जोड़ों, मांसपेशियों तथा सिर में तेज दर्द।

4. कुछ लोगों में मात्र थकावट और बेचैनी।

5. आंखे लाल होकर पानी गिरना, आंखों के चारों ओर की नसों में सूजन और खुजली का होना।

मई 2018 में भारत के केरल में निपाह वायरस का संक्रमण चमगादड़ों और इसके खाए फलों से फैला। जिसमें 17 लोगों की मृत्यु की पुष्टि हुई। उस समय पक्षियों के खाए फलों को खाने की मनाही हो गई थी। मलेशिया में संक्रमित सूअरों में पाए गए विषाणु से निपाह की फ्लू फैली।

6. कहीं चमड़ी में दाने और फफोले, पैरों में जख्म।

7. उल्टी, दस्त, पेट दर्द (विशेषतः बच्चों में), कमजोरी और भूख की कमी।

8. सूंघने या स्वाद महसूस करने की क्षमता खत्म होना।

9. सांस में तकलीफ, दम फूलना, न्यूमोनिया तथा हृदय रोग, बेहोशी। इलाज नहीं होने पर मृत्यु तक हो सकती है।

10. एक भ्रामक विश्वास व्याप्त है कि छोटे बच्चों को कोरोना का संक्रमण नहीं होता। छोटे बच्चों में यह बुखार, सांस की दिक्कत ना होकर, तेज पेट दर्द, उल्टी, दस्त, हृदय की गड़बड़ी और कावासाकी नाम की गंभीर बीमारी जैसी स्थिति हो जाती है। वयस्कों की तरह बच्चों में भी संक्रमण तेजी से फैलता हैं। समय से चिकित्सकीय सहायता मिले तो ठीक, अन्यथा बच्चे की मृत्यु हो सकती है। अनेकों बच्चों में लक्षण दिखते नहीं पर इनके नाक और गले में मौजूद विषाणु आसानी से अन्य लोगों और बुजुर्गों में प्रवेश कर जातें है।

चूंकि कोरोना के 80 प्रतिशत से अधिक संक्रमितों में कोई लक्षण नहीं होते और ये आस-पास लोगों को संक्रमित करते रहते हैं, इनकी पहचान मात्र ऐन्टिजन-जांच के द्वारा ही हो सकती है। अतः यह जरूरी है कि सभी लोगों का, स्क्रीनिंग टेस्ट विशेषतः जिनका संक्रमितों से संपर्क हुआ हो, की जाय। सभी लक्षणरहित संक्रमितों को जब तक ये संक्रमण रहित ना हो जाएं, अलग रखा जाय, ताकि ये समुदाय को और अधिक संक्रमित ना करे। इनके संपर्क में आए सभी व्यक्तियों की खोज (ट्रैसिंग) की जानी चाहिए, जो कहीं और स्वस्थ्य लोगों को संक्रमित कर रहे होंगे। यदि संक्रमण के लक्षण हों तो इन्हे अस्पताल में भर्ती करके इलाज करना चाहिए।

कोविड-19 के लिए मात्र टेस्टिंग, ट्रैसिंग और आवश्यकतानुसार ट्रीट्मन्ट, 3Ts ही उपाय है, जब तक इसके लिए कारगर टीका ना आ जाय। पूरे समुदाय की जांच के बाद, सभी संक्रमणरहित लोगों को क्वारंटीन के बाद काम करने की आजादी होनी चाहिए, उन्हें काम करने देना चाहिए। ताकि पूरी अर्थव्यवस्था ठप ना पड़ जाए।

दिसंबर-19 में चीन के हुवेई प्रांत के वुहान शहर से शुरू होकर अत्यंत शीघ्रता से चीन के अनेक प्रांतों को संक्रमित करते हुए यह एशिया के अंदर और बाहर विश्व के सभी देशों में फरवरी 2020 तक फैल चुका था। देखते-देखते पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले चुका है।

चूंकि भारत में सही समय पर और सही जनसंख्या में समुचित टेस्टिंग कर लोगों को अलग नहीं किया गया, इसलिए पूरे समाज में सामुदायिक संक्रमण हो चुका है।

बिना सही योजना और व्यवस्था किए, अचानक तालाबंदी से पूरे देश मे अफरा-तफरी मच गई, सामाजिक और अर्थव्यवस्था ठप पड़ गई, और गंभीर आर्थिक-मंदी में देश फंस गया। जिसका सीधा असर पुनः जनस्वास्थ्य और कोविड-19 के रोकथाम पर भी होना ही है।

खोज करने पर पता चला कि यह कोरोना वायरस चमगादड़ों से फैला है या चमगादड़ों से बिल्लियों में होते हुए मनुष्यों तक फैले है। सार्स समूह की बीमारियों में विषाणु सांस, खांसने, छींकने या सीधे संक्रमित व्यक्ति या वस्तु के सम्पर्क से तेजी से फैलता है।

कोरोना के मरीजों को आवश्यकतानुसार हॉस्पिटल में बिस्तर, ऑक्सीजन, लक्षण कम करने की दवाएं और गंभीर मरीजों के लिए वेंटिलेटर उपलब्ध करवाना ही एकमात्र इलाज है।

इन संक्रमितों के इलाज में डॉक्टर, नर्स, सफाई, एंबुलेंस, स्वास्थ्य तथा सहायक चिकित्साकर्मी लगातार व्यस्त हैं। ये लोग आमतौर पर अस्पताल में ही रहते हैं। अपने घर तक नहीं जा पाते कि घर वाले इनसे संक्रमित हो जाएंगे। इनमें अब तक हजारों संक्रमित हो चुके हैं और हजारों स्वास्थ्यकर्मियों की मौत हो चुकी है।

अपने परिवार की और खुद की भी देखभाल, इन स्वास्थ्यकर्मियों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। ये लोग अपनी जान की बाजी लगा रहे हैं। इसके लिए समाज, राज्य और केंद्र सरकारों को आगे बढ़कर जिम्मेदारी लेनी चाहिए।

दुनिया के प्रत्येक देश में स्थित डब्ल्यूएचओ के केन्द्रों और इनकी सरकारों की सतर्कता, सक्रियता, आपसी सहयोग से ये विषाणुजन्य संक्रमण नियंत्रण में रहते हैं। पर बीच-बीच में कई कारणों से संक्रमण बढ़ने की सूचना आती रहती है। इन पर लगातार शोध चल रहे हैं, जब तक इनके विरुद्ध बिल्कुल सटीक टीके या विषाणु रोधी दवाइयां नहीं बन जाती, तब तक शारीरिक दूरी, बाहर निकलते ही हमेशा मास्क का प्रयोग और बार-बार हाथ की सफाई ही संक्रमण को रोकने का मंत्र है।

हमेशा याद रखने की जरूरत है कि 1918 का अत्यंत घातक एच1एन1 विषाणु कहीं गया नहीं बल्कि हमारे साथ ही है। आज भी मौसमी इनफ्लूएंज़ा के रूप में हरेक साल प्रकट होता है। इसमें प्रतिवर्ष विश्व में 2,50,000 से 5,00,000 कम प्रतिरोधी क्षमता वाले व्यक्तियों की मौत हो जाती है। मानव इतिहास में अब तक करीब 1 अरब लोगों से ज्यादा लोगों की मृत्यु इससे हो चुकी है। ■

लेखिका राजेंद्र इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंस रांची से सेवा निवृत्त प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हैं।

इमराना कादीर और सौरेंद्र मोहन घोष

भारत में कोविड-19 के शुरुआती चरण के सबक

नई महामारी कोविड-19 का असर विभिन्न देशों में उनके सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक माहौल और स्वास्थ्य व्यवस्था की दशा के मुताबिक अलग-अलग हुआ। भारत में महामारी का प्रकोप फरवरी से मई, 2020 के दौरान फैला। महामारी का प्रकोप शुरुआत में जिन राज्यों में फैला, उससे निपटने की तैयारी के मामले में केरल को छोड़कर बाकी राज्यों ने ढीलाढाला रवैया दिखाया। तकरीबन मार्च के मध्य में एक उच्च अधिकारप्राप्त नीति निर्माण और निगरानी समिति का गठन किया गया और 123 साल पुराने 1897 के महामारी रोग कानून को अमल में लाया गया, जो सरकार को अकूत अधिकार दे देता है। 25 मार्च से देशव्यापी लॉकडाउन की प्रशासकीय रूपरेखा मुहैया कराने के लिए 2005 के आपदा प्रबंधन कानून को अमल में लाया गया। इन दोनों कानूनों के जरिए महामारी नियंत्रण बेहद केंद्रीकृत सख्त और अफसरशाही के नियंत्रण वाला अभियान बन गया। सब-कुछ पूरी तरह गृह मंत्रालय और उसकी पुलिस के अधीन आ गया। पेशेवर विशेषज्ञ जानकारियां स्वास्थ्य व्यवस्था के सरकारी आश्वासनों की महज पूरक और कम महत्व की बना दी गई। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भारतीय रणनीति की सराहना की। राजनैतिक और वैज्ञानिक हलके में भी जंग लड़ने, नियंत्रण पाने और खत्म करने की आक्रामक भाषा का बोलबाला हो गया और फोकस अंतरराष्ट्रीय सैलानियों और विदेश गए भारतीयों पर हो गया। यह तथ्य नजरअंदाज कर दिया गया कि नए वायरस या विषाणु पर्यावरण के साथ हमारे विध्वंसक रिश्ते की उपज हैं। लिहाजा, तकनीक के जरिए जैविक रूप से काबू पाने की कोशिश से सामाजिक रिश्तों के बिगड़ने और कारोबारी हितों को दरकिनार करने में मदद मिल सकती है।

ऐसी आपदा से अमूमन निबटने की कोशिश करने वाली भारत की स्वास्थ्य व्यवस्था जातिगत हितों और वर्ग विभाजित समाज के लंबे टकरावों में लस्तपस्त है। इन टकरावों ने ही आजादी के बाद देश में सबको समान बुनियादी स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने के सपने को तार-तार कर दिया। कल्याणकारी राज्य की नीतियों को 1990 के दशक में संरचनात्मक अनुकूलन और स्वास्थ्य क्षेत्र सुधार के तहत बदलने का मतलब यह था कि स्वास्थ्य सेवा भी अब खरीद-बिक्री की चीज बन गई। लिहाजा, स्वास्थ्य सेवा प्राप्त करने में गैर-बराबरी बढ़ी, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र सिकुड़ा, उसका कारपोरेटीकरण और व्यावसायीकरण हुआ, सार्वजनिक-निजी

हिस्सेदारियां बढ़ीं और स्वास्थ्य बीमा की शुरुआत हुई। नतीजा यह हुआ कि स्वास्थ्य सेवा की कीमतें आसमान चूमने लगीं, प्राथमिक सेवा की उपेक्षा होने लगी, गरीबों की स्वास्थ्य सुविधाओं से दूरी बढ़ती गई और स्वास्थ्य सेवा की गुणवत्ता घटती गई। अर्थव्यवस्था भी खस्ताहाल है। तनख्वाहें और मजदूरी घट रही है, बुनियादी जरूरतों की कीमतें बढ़ रही हैं और रोजगार घट रहे हैं लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद उफान पर है। ऐसे ही माहौल में कोविड-19 महामारी भारत में पहुंची, जिसे 30 जनवरी को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दुनियाभर में स्वास्थ्य आपदा के रूप में ऐलान किया। भारत में इसका पहला मामला 30 जनवरी को दर्ज हुआ और 14 मार्च को यह 100 का आंकड़ा पार कर चुका था। तीन दिन बाद विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे महामारी घोषित किया।

इसलिए दुनिया के अन्य हिस्सों के अनुभव से चुनौती यह थी कि संक्रमण का प्रकोप तेजी से फैलने से रोकने के लिए शुरू में ही उस पर काबू पा लिया जाए। यूं तो यह संक्रमण 80 फीसदी मामलों में बहुत नुकसान नहीं करता, लेकिन 15-20 फीसदी मामलों में अस्पताल में भर्ती होने की जरूरत पड़ सकती है और उनमें 4 फीसदी मामलों में सघन चिकित्सा जरूरी हो जाता है। बड़े

पैमाने पर प्रकोप से स्वास्थ्य सेवाओं पर दबाव बढ़ सकता था और उम्रदराज लोगों के लिए घातक हो सकता था। यह सब वायरस के बढ़ने की दर, मामलों की सटीक जांच और स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने की क्षमता पर निर्भर करता है। फरवरी और मार्च में पर्याप्त ध्यान न देने से बड़े पैमाने पर संक्रमण के प्रकोप की आशंका के मद्देनजर देशभर में सख्त लॉकडाउन लगा दिया गया और इसके लिए न लोगों को भरोसे में लिया गया, न शहरों में कामकाजी वर्ग की आजीविका की कोई व्यवस्था की गई। महामारी के प्रति हरकत में आने में देरी और लॉकडाउन में उससे निपटने के तरीके से खुलासा हुआ कि देश में राजनैतिक जरूरतों के आगे विज्ञान और तर्कसंगत सोच-विचार

को पीछे धकेल दिया गया।

हरकत में आने में देरी

शुरुआत में महानगरों के हवाई अड्डों तक ही सतर्कता बरती गई, परिवहन के बाकी सभी माध्यमों को नजरअंदाज कर दिया गया और जांच भी सिर्फ तापमान मापने तक ही सीमित रही। हवाई अड्डों पर भी सख्ती नहीं बरती गई। घरों और संपर्क में आए लोगों की जांच में ज्यादातर अंतरराष्ट्रीय सैलानियों के घरेलू कर्मचारियों को नजरअंदाज किया गया। भारतीय चिकित्सा शोध परिषद (आइसीएमआर) के जांच के दिशा-निर्देश छोटे दायरों के लिए थे, सिर्फ उन्हीं की जांच होनी थी, जिनमें सर्दी-जुकाम या सांस लेने में दिक्कत जैसे लक्षण थे। जांच की संख्या और प्रयोगशालाएं बेहद थोड़ी थीं। हाथ धोने, आपस में कुछ दूरी रखने और भीड़ में जाने से बचने जैसे निजी बचाव के उपाय उन्हीं कुछ लोगों के लिए संभव थे, जिनके पास सुविधाएं हैं। शहरी कामकाजी वर्ग के ज्यादातर लोग तो झुग्गी-बस्तियों और भीड़ भरी कॉलोनियों में रहते हैं, जहां पानी और साफ-सफाई की समुचित व्यवस्था नहीं है, न ही सैनिटाइजर हासिल करने की गुंजाइश है। प्रशासन तो सरकार के नागरिकता संबंधी नए कानूनों के विरोध में सेकुलर विरोध प्रदर्शनों, अमेरिकी राष्ट्रपति के भारत दौरे और दिल्ली में फरवरी के आखिर में भड़के सांप्रदायिक दंगे से ही 'निपटने' में व्यस्त था। मध्य मार्च में कोविड-19 के संक्रमण का प्रकोप दोगुनी दर से बढ़ने लगा तो तेजी से फैसला लेते और हालात पर काबू पाने की कोशिश करते दिखने के लिए राजनैतिक नेतृत्व ने अचानक देशव्यापी लॉकडाउन का ऐलान कर दिया। लॉकडाउन से देश में कुल 40.1 करोड़ असंगठित क्षेत्र के मजदूरों में से तकरीबन 9.2 करोड़ शहरी मजदूरों का जीवन दूभर हो गया (आंकड़े अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की 2018 की रिपोर्ट के मुताबिक)। सार्वजनिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ किसी तरह की वैकल्पिक व्यवस्था कायम करने के काबिल ही नहीं थे, जिससे सतर्कता और सावधानी बरतने के मामले में सामुदायिक हिस्सेदारी हो सके, स्वास्थ्य और अन्य सेवाएं दुरुस्त हो सकें या ऐसे सीमित लॉकडाउन पर जोर दिया जाए, ताकि छोटे उद्योग-धंधों की रक्षा हो सके और लोगों की आजीविका बनी रहे।

लॉकडाउन: सोने के अंडे के चक्कर में मुर्गी की ही हत्या

लोगों को तो वायरस रूपी खतरनाक दुश्मन से लड़ने को कहा गया और यह भी कहा गया कि इसमें कोई 'राजनीति' न करने को कहा गया, लेकिन एक खास समुदाय के प्रति खासकर तबलीगी मामले में उंगली उठाई गई, जिससे उस समुदाय के लोगों के प्रति समाज में दुराव पैदा हो गया। यहां तक कि दिल्ली दंगों के पीड़ितों के लिए राहत शिविर भी आनन-फानन में खत्म कर दिया गया और एनपीआर, एनआरसी तथा सीएए के खिलाफ आंदोलन कर रहे नौजवान कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस तरह लॉकडाउन अनुदार सरकारी नीतियों के लिए एक औजार बन गया। कोरोना के खिलाफ लड़ाई एक तरह के सामाजिक तबके के विरुद्ध हो गई और कामकाजी वर्ग को कोई सूचना ही नहीं थी कि क्या होने जा रहा है। तकरीबन 64 हजार अंतरराष्ट्रीय सैलानियों और उनका सुविधा संपन्न वर्ग शहरी इलाकों में तमाम बुनियादी सुविधाओं को हासिल करने का हकदार बन गया। जबकि शहरों में असंगठित क्षेत्र के मजदूर तबके के लोग हाथ मलते रह गए। वे अपने गांव-घर लौटने लगे, इससे यह जाहिर होता है कि उन्हें शहरों में आश्रय और भोजन वगैरह मुहैया कराने की योजनाओं पर कोई भरोसा नहीं था। ये योजनाएं भी समस्या बढ़ने पर सोची गई। इस तरह सामाजिक दूरी का नया रूप सामने लाया गया, जो भारत के जाति और वर्ग विभाजित समाज की पहले से भी सच्चाई रही है। अपने गांव-घर की सुरक्षा में सैकड़ों मील पैदल चलकर जा रहे पुरुष, स्त्री, बच्चे सभी अजीबोगरीब जलालत और मौत तक को झेलने को मजबूर हो गए। कई लोगों की जान दुर्घटनाओं में गई। कई जगह पुलिस ने उन्हें रोककर अपमानित-प्रताड़ित किया। कुछ जगहों पर उन पर सेनेटाइजर का छिड़काव भी किया गया। दरअसल इस पूरी कवायद में जैसे पुलिस को ही अलंबरदार बना दिया गया था। जो इस तमाम दिक्कतों को झेलकर अपने घर पहुंच पाए, उन्हें भी बाद में रोजी-रोटी का संकट सताने लगा। हाल में सरकार ने ऐलान किया कि उसके पास तो ऐसे मजदूरों का कोई आंकड़ा ही नहीं है इसलिए सड़क पर मरने वालों के परिजनों को किसी तरह का हर्जाना-मुआवजा देने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

इस पूरे दौरान मध्य वर्ग तो लॉकडाउन के पूरी तरह समर्थन में था और उन लोगों को दोष दे रहा था, जो लॉकडाउन के नियमों का पालन नहीं कर पा रहे हैं या सरकार पर भरोसा नहीं कर रहे हैं। लेकिन शहरी मजदूरों का जब बड़े पैमाने पर पलायन शुरू हुआ तो थोड़ा-बहुत राहत के उपाय शुरू किए गए, लेकिन बहुत देर से और बहुत थोड़े। पूरे देश की स्वास्थ्य व्यवस्था को सुधारने के लिए महज 15 हजार करोड़ रुपये का ऐलान किया गया और उसके भी ब्यौरे नहीं जाहिर किए गए। जनहित के नाम पर 1897 के महामारी कानून जैसे सख्त कानून को अमल में लाया गया और पुलिसिया डंडे से लोगों को अनुशासित करने, उन्हें अपमानित करने के उपायों से जाहिर है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के मूल नियम की ही धज्जियां उड़ा दी गईं।

जब अप्रैल के शुरू में भी महामारी काबू में आती नहीं दिखी तो प्रधानमंत्री खुद राज्यों से सलाह मांगने लगे और कहने लगे कि लॉकडाउन का विकल्प सुझाएं। इस तरह केंद्र ने खुद को जिम्मेदारी से बरी कर लिया और लॉकडाउन तीन मई तक बढ़ा दिया। लॉकडाउन के तहत महामारी पर काबू पाने के लिए निजी लैब वगैरह को प्रोत्साहन दिया गया। ये लैब आईसीएमआर के अधिकारियों की शह से जांच की कीमत बढ़ाने की जद्दोजहद में लग गए, जबकि आईसीएमआर के खुद के पदाधिकारी जांच के लिए सरकारी रियायतें देने या मुफ्त करने की बात कर रहे थे। इसके बावजूद ज्यादातर जांच 156 सरकारी लैब में ही हुआ, जबकि 69 निजी लैब ने मामूली हिस्सेदारी निभाई। वेंटिलेटर, पीपीई, सेनेटाइजर के उत्पादन के लिए निजी उद्योग को प्रोत्साहन दिया गया। पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मंत्री ने सेनेटाइजर के लिए अतिरिक्त एथेनॉल उत्पादन का इस्तेमाल करने का प्रस्ताव रखा। दूसरी तरफ बेरोजगार हो गए परिवारों के सामने भुखमरी का आलम था। कोविड-19 के गंभीर मामलों के लिए भी सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने के बदले निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन दिया गया। 17 मार्च तक स्थिति यह थी कि सरकारी अस्पतालों में 84,000 लोगों के लिए महज

एक आइसोलेशन बिस्तर उपलब्ध था और 36,000 लोगों के लिए एक क्वारंटीन बिस्तर। देशभर में कुल बिस्तर 7,27,341 और 8,432 वेंटिलेटर थे। निजी अस्पतालों में ऐसे उपकरण 30,000 थे। इसके साथ ही निजी क्षेत्र में कुल बिस्तरों का दो तिहाई था। लेकिन निजी क्षेत्र कोविड के गंभीर मामलों का इलाज सिर्फ 10 प्रतिशत ही किया गया। फिर भी सरकार पहले निजी क्षेत्र को ही प्रोत्साहन देती रही। हालांकि निजी क्षेत्र में दस दिन के लिए वार्ड का शुल्क 1,10,000 रुपये और आईसीयू में 50,000 रुपये प्रतिदिन था। ग्रामीण इलाकों के लिए मंत्रालय की सलाह से स्पष्ट था कि कोई अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध नहीं है, कि उन्हें अपने संसाधनों पर ही भरोसा करना पड़ेगा। हालांकि वहां स्वास्थ्यकर्मियों पर काम का बोझ काफी बढ़ गया था और सुरक्षा के अतिरिक्त उपाय नहीं थे। स्वास्थ्य सेवा की इस कमी के कारण कोविड-19 के अलावा दूसरी बीमारियों के गंभीर मरीजों की उपेक्षा हुई और उन्हें आपात स्थिति में भी सेवाएं मुहैया नहीं हो पाईं। ऐसे हालात में रोजी-रोटी के संकट और भुखमरी के हालात ने और तबाही मचाई।

स्वास्थ्य राज्य का विषय है, लेकिन उनसे कोई सलाह नहीं ली गई। जबकि स्थानीय स्थितियों और संसाधनों के बारे में ज्यादा पता राज्यों को ही है। इस तरह योजना बेहद केंद्रीकृत थी। जांच का स्तर बेहद कम होने के बावजूद स्वास्थ्य मंत्रालय ने प्रकोप के समान गति से बढ़ने को ऐसे परिभाषित किया कि लॉकडाउन में संक्रमण के दोगुनी होने का डर कम रहा। इस तरह संक्रमण की शृंखला को तोड़ने के लिए लॉकडाउन के विस्तार को जायज ठहराया गया। विशेषज्ञ समिति के अध्यक्ष के मुताबिक यही असली उद्देश्य था और ''अगर लॉकडाउन झटके से हटा लिया गया'' तो उद्देश्य बेमानी हो जाएगा। स्वास्थ्य मंत्रालय और आईसीएमआर के अधिकारी सामुदायिक प्रसार की बात भी नकारते रहे, जबकि उनके अपने ही शोधकर्ताओं ने सामुदायिक प्रसार के लक्षण वाले अध्ययन प्रकाशित कर चुके थे।

आंकड़ों में तो कोई पारदर्शिता थी ही नहीं, अक्सर सरकार की वैज्ञानिक और प्रशासनिक महकमें के बीच टकराव और असहयोग के सबूत भी मिले। जांचकर्ताओं की रिपोर्ट से पता चलता है कि मुहैया कराई गई सूचनाएं सार्वजनिक नहीं की गईं। सरकार ने सुप्रीम कोर्ट से यह आग्रह किया कि पत्रकारों को सिर्फ सरकारी मंजूरी के बाद ही कोविड-19 के आंकड़े प्रकाशित करने चाहिए ताकि बेवजह घबराहट न फैले। अदालत ने इसे तो खारिज कर दिया, लेकिन खबरिया चैनलों को सलाह देकर सरकारी डाटा प्रकाशित करें। इस तरह सरकार को खुद लोगों को सूचनाएं देने की जिम्मेदारी से बरी कर दिया गया।

लंबे चले लॉकडाउन में शायद महामारी से ज्यादा नुकसान किया। उसने अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया। कामकाजी वर्ग और उनके परिवारों की माली हालत बिगाड़ दी और बुजुर्गों, गंभीर बीमारों, गर्भवती महिलाओं और बच्चों की सेहत की घोर उपेक्षा हुई। दरअसल संक्रमण तो तभी चढ़ना शुरू हुआ, जब लॉकडाउन धीरे-धीरे खत्म होने लगा।

मजदूरों के पलायन के कारण शहरों की अर्थव्यवस्था पटरी पर नहीं आ सकी। छोटे कारोबारी और उद्योगधंधे तो लगभग चौपट हो गए। आर्थिक स्थितियां ठप होने से बेरोजगारी बेइंतहा बढ़ी और लोगों की परेशानियां कई गुना बढ़ गईं। मई के शुरुआत में बेरोजगारी दर 27.1 प्रतिशत बढ़ गई थी। 12.71 करोड़ लोग रोजगार गंवा चुके थे। इनमें 9.13 करोड़ दैनिक मजदूरी करने वाले, रेहड़ी-पटरी लगाने वाले और छोटे काम-धंधे करने वाले लोग थे। बाकी लोगों में वेतनभोगी कर्मचारी थे। आवाजाही बंद होने, बाजार बंद होने और मजदूरों की कमी से रबी फसल खासकर गेहूं की कटाई काफी प्रभावित हुई और किसानों को नुकसान झेलना पड़ा। जिला अस्पतालों को कोविड अस्पताल में बदलने से सामान्य तौर पर हर साल इन अस्पतालों में इलाज कराने वालों की दुर्दशा हुई और उनकी कठिनाइयां बढ़ीं। एनएसएसओ 2019 के आंकड़ों के मुताबिक हर साल एक जिला अस्पताल में तकरीबन 52,000 मरीजों का इलाज होता है।

निष्कर्ष

कोविड संक्रमण के पहले चरण का सबक यही है कि लॉकडाउन स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूती देने की मोहलत तो जुटा सकता है, बशर्ते लोगों की रोजी-रोटी का ख्याल रखा जाए। इससे संक्रमण की शृंखला नहीं टूटती। जांच की दर से सिर्फ संकेत मिलता है, न कि पूरी आबादी में संक्रमण की स्थिति का पता चलता है। जांच बढ़ने से संक्रमण की संख्या में इजाफा होता है तो इसका अर्थ यह है कि अभी संक्रमण अपनी पूरी बुलंदी पर नहीं पहुंचा है और अपर्याप्त जांच से संक्रमण के धीरे बढ़ने का भी यह मतलब नहीं होता कि वायरस के प्रकोप पर काबू पा लिया गया है। संक्रमण पर काबू पाने के लिए मामलों की पहचान करना, क्वारंटीन करना और इलाज करना ही एकमात्र उपाय है। इसके लिए बेहद जरूरी है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुविधाएं अच्छी हों और लोगों की संक्रमण रोकने के उपायों में भागीदारी अधिक से अधिक हो। बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करना, पीपीई और ऑक्सीजन की आपूर्ति बेहतर करना महत्वपूर्ण है। साथ ही कोविड के अलावा दूसरे गंभीर मरीजों का भी इलाज होना बहुत जरूरी है। जब लॉकडाउन का इस्तेमाल सामाजिक टकरावों पर काबू पाने के लिए भी किया जाने लगे तो इससे लोगों की भागीदारी और सहयोग कम होना लाजिमी है। अंत में, लंबा और सख्त लॉक-डाउन बेमानी और उलटे नतीजों वाला साबित हुआ। इससे अर्थव्यवस्था चौपट हुई और गरीब-गुर्बों का जीवन मुहाल हो गया। पोषण के अभाव में दूसरी बीमारियों का बोझ भी बढ़ता गया। यही तो हुआ है भारत में।

तो क्या देश के नीति-नियंता कुछ अधिक व्यावहारिक बनेंगे और इससे मिले सबक पर गौर करेंगे या फिर बस यही सपने बेचते रहेंगे कि एक दिन टीका आ जाएगा। टीका भी जल्दी उपलब्ध होने वाला नहीं है और सरकारी सुविधाओं की हालत के मद्देनजर सबको आसानी से उपलब्ध होने वाला भी नहीं है। ■

काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट, नई दिल्ली

(जर्नल ऑफ सोशल चेंज में अंग्रेजी में छपे अध्ययन का अनूदित सार-संक्षेप)

चेतावनी की तरह है महामारी

डॉ. सुनील दीपक दुनिया भर में अलग अलग बीमारियों के चिकित्सकीय अध्ययन और उनसे जुड़ी सलाह विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसे संगठनों को देने का काम लंबे समय से करते आ रहे हैं। इस सिलसिले में दुनिया के विभिन्न देशों के विभिन्न समुदायों से संवाद और अध्ययन का उन्हें तजुर्बा है। वे लंबे समय से इटली में रह रहे हैं। सामयिक वार्ता के इस अंक के लिए लिखने की गुजारिश को उन्होंने कबूला इसके लिए हम उनके आभारी हैं। डॉ सुनील दीपक हिंदी के शुरुआती लोकप्रिय चिट्ठेकारों (ब्लॉगर्स) में गिने जाते हैं। अपने लेखन का ब्लॉग 'जो न कह सके' के अलावा लोहिया की समाजवादी पार्टी से जुड़े अपने पिता ओमप्रकाश दीपक के लेख तथा मां कमला (वे भी उस दल की सक्रिय कार्यकर्ता थीं) की डायरी का ब्लॉग 'ओम कमला' भी संचालित करते हैं। इसके अलावा कल्पना नामक वेबसाइट तथा इतालवी एवं अंग्रेजी में भी ब्लॉग चलाते हैं। ओमप्रकाश दीपक की किताबों- कुछ जिंदगियां बेमतलब तथा लोहिया : असमाप्त जीवनी (जिसे अरविंद मोहन ने पूर्ण किया) की बिक्री से प्राप्त राशि को सुनील दीपक, उनकी बहन वरिष्ठ पत्रकार विनीता दीपक तथा अरविंद मोहन ने आपसी मशविरे से सामयिक वार्ता को दिया है। सामयिक वार्ता की टीम आभारी है।)

डा. सुनील दीपक

प्राचीन काल से मानव इतिहास में महामारियों ने इतिहास का रुख मोड़ने व बदलने में महत्वपूर्ण भाग निभाया है। पिछले सौ वर्षों में चिकित्सा विज्ञान के विकास के साथ लगने लगा था कि शायद हम विश्वभर में फैलने वाली महामारियों पर विजय पाने में सफल हो गए हैं। इस वर्ष की कोविड-19 की महामारी, जो चीन में वुहान से निकली और थोड़े समय में सारे विश्व में फैल गई, ने ऐसी सभी आशाओं के सामने प्रश्नचिन्ह खड़े कर दिए हैं। यही नहीं, महामारी ने पिछले दशकों के निरंकुश वैश्वीकरण के भविष्य के बारे में संदेह बढ़ाए हैं।

ऐसा नहीं कि पिछले दशकों में महामारियां नहीं हो रहीं थीं, लेकिन कोविड-19 का सामान्य जीवन पर जो प्रभाव हुआ है, वह उन सबसे भिन्न है। अंतरिक्ष में जाने वाले जहाजों जैसे वस्त्रों से घिरे गहन चिकित्सा कक्षों के स्वास्थ्यकर्मियों के मध्य में महामारी से मरने वालों को अपने अंतिम समय में परिवार का सामिप्य नहीं मिलता और वैसे ही अकेले में उनकी अंतिम क्रिया की जाती है। शहरों की तालाबंदी से लाखों प्रवासी मजदूर अपने गांवों की ओर कई सौ किलोमीटर के रास्ते पैदल ही पार करते हैं। छुटमुटा काम से जीवनयापन करने वाले, बिना काम के कैसे खाना खाएंगे, उनकी अपनी चिंताएं हैं। विद्यालय और विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ने वाले छात्रों को पढ़ने के लिए इंटरनेट की तकनीकी का सहारा लेना पड़ा है, जिससे उन सब गरीब छात्रों की समस्या उभरी है, जिनके पास इस तकनीकी के माध्यम नहीं है। इस सब के बीच में ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिनका महामारी में विश्वास नहीं, जो कहते हैं कि यह सब बड़ी कम्पनियों के द्वारा रचा एक षडयंत्र है।

यह आलेख महामारी को स्वास्थ्य समस्या के रूप में समझने पर केन्द्रित है।

पिछली महामारियां

हर चार पाँच वर्षों में विश्व के किसी न किसी कोने में कोई न कोई महामारी उठती ही रही है, लेकिन वह सब-कुछ देशों में सीमित रही थीं। इसका एक उदाहरण है ईबोला वायरस की बीमारी जो कि सन् 2014 की गर्मियों में उत्तर पश्चिमी अफ्रीका में गिनी कोनक्री में उभरी और थोड़े समय में पास के देशों में (सिएरा लिओन, लाईबेरिया, सेनेगल, नाईजीरिया, और माली) फैल गई। इस बीमारी से संक्रमित लोगों में से करीब पचास प्रतिशत की मृत्यु हो रही थी। यह रोग बीमार व्यक्तियों के रक्त, वीर्य तथा थूक से फैलता है, साँस के द्वारा नहीं फैलता, इसलिए इसे रोकना आसान था, फिर भी उसे पूरी तरह से रोकने में करीब दो वर्ष लगे। इस महामारी का जिन देशों में रोगियों की संख्या अधिक थी, उनके आर्थिक व सामाजिक जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जैसे कि लाईबेरिया में सन् 2013 में वार्षिक आर्थिक विकास दर आठ प्रतिशत से अधिक थी, जोकि 2014 में शून्य से भी नीचे चली गई और अभी तक पूरी तरह से सामान्य नहीं हुई है। 2019 में ईबोला के निवारण के लिए पहली वेक्सीन भी तैयार हो चुकी है।

जब इस तरह की कुछ देशों में सीमित रहने वाली महामारियां उभरती हैं, तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली संस्थाएं तुरंत उसे रोकने में सक्रिय हो जाती हैं, और बाकी के देशों में उसका असर नहीं होता। ऐसी महामारी जो सारे विश्वभर में फैली हो, यह अंतिम बार 1980 के दशक में एड्स की बीमारी के साथ हुआ था। ईबोला की तरह, एड्स का रोग भी रक्त, वीर्य तथा थूक से फैलता था और अब तक इससे तीन करोड़ से अधिक लोग संक्रमित हो चुके हैं। चूंकि यह बीमारी साँस से नहीं फैलती, इसलिए यह जन-समान्य में नहीं फैली। अभी तक इसके निवारण के लिए वैक्सीन नहीं खोजी जा सकी, लेकिन इसकी चिकित्सा के लिए दवाईयां सारे विश्व में उपलब्ध हैं इसलिए अब इसका भय भी कम हो गया है।

जो रोग साँस के रास्ते से फैलते हैं, उनको रोकना अधिक कठिन है। इसीलिए, हर वर्ष सर्दियों में फ्लू की बीमारी फैलती है, जिससे सारा विश्व प्रभावित होता है। लेकिन सामान्य फ्लू अधिक गम्भीर रोग नहीं है, कुछ दिनों के बुखार के बाद ठीक हो जाता है, इसलिए इसे महामारी नहीं कहते। फ्लू भी एक वायरस से होता है, जोकि कुछ महीनों में

बदलता रहता है, इसलिए इसके निवारण के लिए हर वर्ष नई वैक्सीन बनाई जाती है। हर बार यह खतरा होता है कि बदलाव से फ्लू रोग बिगड़ कर जानलेवा न हो जाए, तो अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं इसके वायरस में आए बदलावों की निगरानी करती हैं।

अंतिम बार जानलेवा फ्लू करीब सौ वर्ष पहले, द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में फैला था। यह करीब चार वर्षों तक चला था और सारे विश्व में करीब पचास करोड़ लोग इससे संक्रमित हुए थे, जिनमें से करीब ढाई करोड़ रोगियों की मृत्यु हो गई थी। इसे स्पेनिश फ्लू की महामारी के नाम से जाना जाता है। उस समय वैक्सीन बनाने की तकनीकी का विकास नहीं हुआ था और संक्रमण से बचने के लिए वही किया गया जैसे कि आज कोविड-19 से बचने के लिए किया जा रहा है, यानि चेहरे को मास्क से ढकना, घर से न निकलना, और रोगियों को सबसे अलग रखना। सौ वर्ष पहले एक देश से दूसरे देश जाना इतना आसान नहीं था, लेकिन स्टीम जहाज और युद्ध में सिपाही एक देश से दूसरे देश जा रहे थे, जिनसे बीमारी फैली।

संक्रामक रोग क्यों उभरे

मानव संक्रामक रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलते हैं। कुछ रोग हैं जो पशुओं में छुपे रहते हैं और बीच-बीच में मानव समुदायों में आ जाते हैं। संक्रामक रोगों को फैलने के लिए मानव गुटों के बीच सम्पर्क चाहिए। कृषि की खोज से पहले, हजारों वर्षों तक मानव समाज छोटे-छोटे गुटों में बँटा था, जो कि शिकार तथा जंगली कंद मूल पर जीवित रहते थे। कृषि के साथ-साथ मानवता ने पशुओं को पालतू बनाना भी सीखा, और मानव गुट उन पशुओं के समीप समय बिताने लगे। सोचा जाता है कि पहली संक्रामक बीमारियां इसी संदर्भ में उभरीं व फैली।

डार्विन के सिद्धांत के अनुसार, जीव बदलते समय और बदलते वातावरण के साथ बदलते रहते हैं। कुछ जीव जातियां नए वातावरण में बढ़ती और पनपती हैं, अन्य जीव जातियां उस वातावरण में लुप्त हो जाती हैं। संक्रामक रोग भी उस बदलते वातावरण का हिस्सा होते हैं। जब कोई नया संक्रामक रोग उभरता है तो मानव शरीर में उससे लड़ने की शक्ति नहीं होती और उस पहले रोग-आक्रमण में कुछ लोग मर जाते हैं, लेकिन जो बचते हैं, उनमें उस रोग से लड़ने की शक्ति आ जाती है।

इस तरह से जो पहले शहर बने, वहां नए रोग उठे और सदियों के संघर्ष के बाद, उन शहरों और भूमि खण्डों में रहने वाले मानव गुटों में उन रोगों से लड़ने की शक्ति बढ़ी। इन शहरों के रहने वाले जब दुनियां में नए क्षेत्रों की खोज में निकले और उनकी मुलाकात ऐसे मानव समूहों से हुई जो तब तक शिकार और कंद, मूल पर ही जीवन बिता रहे थे और छोटे-छोटे गुटों में रहते थे, तो वह अपनी बीमारियां भी अपने साथ लेकर गए। उन मानव गुटों में इन रोगों से लड़ने की शक्ति बिल्कुल नहीं थी। सोलहवीं, सतरहवीं शताब्दी में यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के अमरीका और आस्ट्रेलिया महाद्वीपों पर विजय पाने में इन रोगों का बहुत बड़ा हाथ था। प्रो. जेरेड डायमंड ने इस विषय में शोध किया है, उनके अनुसार जब स्पेन के जहाज, भारत को खोजते हुए, केरेबियन क्षेत्र और अमरीकी महाद्वीप में पहुंचे तो वहां की लगभग 15 प्रतिशत जनसंख्या इन्हीं रोगों की वजह से नष्ट हो गई।

पिछली शताब्दी की बीमारियों में बदलाव

अठाहरवीं शताब्दी में हॉलैंड में लिवनहोक ने माईक्रोस्कोप का आविष्कार किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांस में लुई पॉस्तोर ने वातावरण में आंखों से न दिखने वाली बीमारी फैलाने वाले कीटाणुओं की परिकल्पना की। ईंग्लैंड में जोसफ लिस्टर ने उसी से प्रभावित होकर शल्य चिकित्सा में स्वच्छ औजारों के प्रयोग और सफाई की बात कही। नोरवे में कुष्ठ रोगी के शरीर में कुष्ठ रोग फैलाने वाले कीटाणुओं को माईक्रोस्कोप में देखकर सिद्ध कर दिया कि उन्हीं कीटाणुओं से कुष्ठ रोग होता था। उसके बाद से एक के बाद एक संक्रामक बीमारी के कीटाणुओं को पहचाना गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रथम विश्व महायुद्ध के दौरान फ्लेमिन्ग ने पैन्सिलिन की खोज की और दिखाया कि इससे बीमारी फैलाने वाले कीटाणु मर जाते हैं। द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद से माईक्रोस्कोप से दिखने वाले सूक्ष्म कीटाणुओं की पहचान और उनको मारने वाली दवाओं की खोज में तेजी से बढ़ोतरी हुई। इन दवाओं को एन्टीबॉयटिक कहा गया। कुष्ट रोग, टाईफाईड, हैजा, क्षय रोग, मलेरिया जैसी बीमारियों का इलाज करने के लिए एन्टीबॉयटिक दवाओं की खोज हुई। दवाओं के साथ-साथ, शौचालय बनवाने, स्वच्छ जल पीने, हाथ धोने, जैसी सुविधाओं को सभी नागरिकों तक पहुंचाने के महत्व को समझा गया, जिनसे बीमारियां कम हुई और लोगों की औसत अपेक्षित आयु में वृद्धि आई। उदाहरण के लिए, 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ था, उस समय भारत में औसत अपेक्षित आयु केवल 31 वर्ष थी, आज यह उससे दुगने से भी अधिक है।

महामारियों पर नियंत्रण

पिछले दशकों में बहुत सी महामारियों पर काबू किया गया। वेक्सीनों की सहायता से चेचक, पोलियो, खसरा, और काली खाँसी करीब-करीब लुप्त ही हो गईं। विभिन्न एन्टीबॉयटिक के प्रयोग से हैजा, प्लेग, डिसेन्ट्री जैसी बीमारियों का उपचार होने लगा। सोचा जाने लगा कि मानवता इन सब बीमारियों पर जल्दी ही विजय प्राप्त कर लेगी।

लेकिन मानव तथा रोगों की इस लड़ाई में तीन बाधाएं आयीं:

1. एन्टीबॉयटिक का उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया, जहां आवश्यकता नहीं होती थी, वहां भी इनको दिया जाने लगा। बहुत से लोग एन्टीबॉयटिक से इलाज शुरू तो कर लेते थे, लेकिन दो दिन लेकर उसे अधूरा छोड़ देते थे, या दवा बदल लेते थे। साथ ही, पशु-पक्षियों को भी एन्टीबॉयटिक दिए जाने लगे। जैसे कि ब्रायलर चिकन को जल्दी मोटा करने के लिए चूजों को प्रारम्भ से ही एन्टीबॉयटिक दिए जाते हैं। इस सब की वजह से कीटाणुओं को बदलने का मौका मिल गया और उन पर एन्टीबॉयटिक का असर होना बंद गया।

2. दूसरी बात है कि बीमारियां कराने वाले सक्षम कीटाणु जीव कई तरह के होते हैं, जिनमें दो प्रमुख प्रकार हैं बैक्टीरया और वायरस। हमारे एन्टीबॉयटिक केवल

बैक्टीरिया को मार सकते हैं, इनका असर वायरस पर नहीं होता। पिछले 25 सालों में एड्स की बीमारी के इलाज के लिए वायरस को रोकने वाली कुछ दवाएं खोजी गई हैं, लेकिन अभी हम वायरस से फैलने वाली बीमारियों में उतने सक्षम नहीं हुए हैं। इन्हें रोकने का एक रामबाण इलाज है वायरस के विरुद्ध वेक्सीन बनाना। चेचक और पोलियो जैसी बीमारियां भी वायरस से होती हैं और इन्हें रोकने के लिए सक्षम वेक्सीन हैं। एड्स् की बीमारी भी वायरस से होती है, लेकिन पिछले तीस सालों की विभिन्न कोशिशों के बावजूद अभी तक इसे रोकने वाली कारगर वेक्सीन नहीं बन पाई है।

इसी तरह से कोविड-19 को रोकने के लिए वेक्सीन को खोजने के प्रयास सारे विश्व में हो रहे हैं, इनमें कितनी सफलता मिलेगी यह तो भविष्य ही बताएगा, हालांकि कुछ प्रारम्भिक परिणामों ने इसकी आशा जगाई है।

3. तीसरी बात है कि औसत जीवन के लम्बा होने से शरीर के भीतरी चलन से जुड़े पाच्य तंत्र, मस्तिष्क तंत्र, जोड़ तथा मांसपेशियों के काम से जुड़ी नई बीमारियां अधिक होने लगी हैं जिनमें कैंसर, मधुमेह, गठिया, हृदय रोग, अधिक रक्तचाप, जैसी स्वास्थ्य समस्याएं हैं, जो संक्रामक बीमारियां नहीं हैं और जिनका उपचार आसान नहीं है। एक बार हो जाएं तो अधिकतर लोगों को सारा जीवन इनके साथ जीना और लगातार दवा खाना पड़ता है। इसे क्रोनिक यानि आजीवन रोगों की महामरी कहा गया है।

कोविड-19 की महामारी

बीमारी फैलाने वाले वायरस कई तरह के होते हैं, जिनमें से एक कोरोना वायरस है, जिनसे खांसी, जुकाम, फ्लू, निमोनिया जैसी बीमारियां होती हैं। कोविड-19, जिसकी महामारी इस वर्ष 2020 में फैली है, एक कोरोना वायरस ही है, जोकि आम तौर पर चमगादड़ों में पाए जाते हैं। यह रोग कब चमगादड़ों से इंसानों में आया, यह पक्का नहीं कहा जा सकता। एक नए रोग के पहले समाचार चीन के वूहान राज्य के हूबेई शहर से अक्टूबर 2019 में आए। दिसम्बर 2019 में थाईलैंड की एक वैज्ञानिक ने इस रोग के वायरस के बारे में जानकारी दी। 30 जनवरी 2020 को विश्व स्वास्थ्य संस्थान ने इस रोग के खतरे की घंटी बजायी, लेकिन तब तक देर हो चुकी थी और वायरस तब तक चीन से आने वाले हवाई जहाजों के साथ बाकी विश्व की यात्रा पर निकल चुका था।

शुरू के दिनों में इस रोग की पूरी जानकारी किसी को नहीं थी और न ही यह समझ में आया था कि इसका उपचार कैसे किया जाए। इसका सबसे चिंताजनक लक्षण साँस की तकलीफ है, जो निमोनिया की तरह फेफड़ों को जकड़ लेती है और रोगी का बचना कठिन होता है, विषेशकर जब रोगी वृद्ध व्यक्ति हो या उनको अन्य क्रोनिक बीमारियां हों। रोग के विश्वव्यापी महामारी बनने के सात माह के बाद, रोग के बारे में हमारी जानकारी बढ़ी है।

यह समझ में आया है कि केवल कुछ प्रतिशत लोग, रोग होने के बाद एक या दो दिनों के लिए इस वायरस को वातावरण में अधिक मात्रा में छोड़ते हैं और रोग को अधिक लोगों में फैलाते हैं। करीब सत्तर प्रतिशत रोगी, इसको अपने शरीर में ही रोक लेते हैं, इसे फैलाते नहीं। वैज्ञानिक ऐसे टेस्ट की खोज कर रहे हैं जिससे यह पता चल सके कि कौन से व्यक्तियों में रोग का संक्रमण करने का खतरा है।

यह भी समझ में आया कि साँस की तकलीफ के अतिरिक्त, कुछ रोगियों को इस बीमारी से शरीर के अन्य भागों, जैसे हृदय व गुर्दे, में भी तकलीफ हो सकती है।

प्रारम्भ में लगता था कि जिनकी हालत बिगड़ जाती है, उनको बचाने का कोई साधन नहीं, जिससे बीमारी के प्रति बहुत भय फैला था। समय के साथ, इसके इलाज में भी सुधार हुए हैं, और जिनकी हालत बहुत बिगड़ जाती है, उनमें से भी अब तीस प्रतिशत से अधिक लोगों को बचा लिया जाता है।

कोविड-19 को रोकने के लिए वेक्सीनों की खोज पूरे विश्व में जोर-शोर से चल रही है। चीन और रूस ने ऐलान कर दिया है कि वह ऐसी वेक्सीन की खोज में बहुत आगे हैं और जल्दी ही यह वेक्सीन उपलब्ध हो जाएगी। लेकिन वेक्सीनों के उपयोगों के कई महीनों के बाद ही वैज्ञानिक बता सकेंगे कि उससे बीमारी का संक्रमण सचमुच रुका या नहीं, कितने प्रतिशत लोगों में वह असरदार है और उसके शरीर पर कोई दुष्प्रभाव तो नहीं, आदि। यह सब जानकारी जल्दबाजी में नहीं मिलती। अधिकतर वैज्ञानिकों का कहना है कि भरोसेदार वेक्सीन अगले वर्ष से पहले उपलब्ध नहीं हो पाएगी।

भारत में कोविड-19 का असर

30 जनवरी 2020 को जिस दिन विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कोविड-19 के खतरे की घंटी बजायी, उसी दिन भारत में इसका पहला रोगी भी पाया गया। प्रारम्भ में रोग धीरे से बढ़ा। साढ़े तीन महीने बाद, 19 मई को, कुल संक्रमित व्यक्तियों की संख्या बढ़कर एक लाख हो चुकी थी। गत 30 सितम्बर को कुल संक्रमित रोगियों की संख्या 9 लाख 38 हजार से कुछ अधिक थी।

अब तक भारत में कुल 64 लाख से थोड़ा कम व्यक्तियों को यह रोग हो चुका है, तथा उनमें से 98,429 व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है। यानि भारत में करीब 1.5 प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हुई है।

पूरे विश्व में अब तक करीब 3.4 करोड़ लोगों को यह रोग हो चुका है, तथा उनमें से करीब दस लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई है। यानि विश्व स्तर पर करीब 3 प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हुई है। विभिन्न भूखंडों में रोग से मत्यु होने की दरों में बहुत अंतर हैं। उदाहरण के लिए यूरोप में कोविड-19 की मृत्यु दर 3.9 प्रतिशत है, जबकि अफ्रीका में यह 2.2 प्रतिशत है।

इस तरह से देखा जाए तो लगता है कि भारत में यह रोग कम घातक हो रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि भारत में इससे पहले कई बार कोरोना वायरस की बीमारियां होती रहीं हैं, जिनसे भारत में बहुत से लोगों के शरीरों में इस रोग से लड़ने की शक्ति विकसित थी, इसलिए यह भारत में कम घातक है। कुछ अन्य कहते हैं कि भारत में बहुत से लोगों में रोग है, लेकिन उनके टेस्ट ही नहीं किए जा रहे हैं। साथ में यह भी कहा गया है कि बहुत से कोविड-19 से मरने वाले लोग अस्पतालों के बाहर गांवों व घरों में मर रहे हैं, जिनकी गिनती नहीं हो रही, जिससे लगता है कि भारत में यह रोग कम घातक है।

विश्व के विभिन्न भागों से आने वाले आंकड़े दिखा रहे हैं कि कोविड-19 की

घातकता सारे विश्व में कम हो रही है। प्रारम्भ में यह करीब 5 प्रतिशत थी, मई में 7 प्रतिशत पहुंच गयी थी और अब करीब 3 प्रतिशत है। भारत में भी अप्रैल से जून के बीच में यह रोग अधिक घातक था, जब मृत्यु दर करीब 3.5 प्रतिशत पहुंच गई थी, उसके बाद से मृत्यु दर में निरंतर गिराव आ रहा है।

विभिन्न राज्यों में इसकी स्थिति बहुत भिन्न है। अक्टूबर के प्रारम्भ में पिछले तीन महीनों के एकत्रित आँकड़ों को देखा जाए तो पंजाब, छत्तीसगढ़, असम और उत्तराखंड की स्थिति बाकी राज्यों के अनुपात में अधिक गम्भीर लगी है, हालांकि इनमें प्रतिदिन के नए रोगियों की संख्या उतनी अधिक नहीं है, लेकिन रोगी निरंतर बढ़ रहे हैं।

कुल संक्रमित रोगियों की संख्या को देखा जाए, तो सितम्बर मास के अंत में सबसे गम्भीर स्थिति महाराष्ट्र तथा कर्नाटक की थी और दूसरे स्थान पर थे केरल, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश। अन्य राज्यों के मुकाबले, बिहार में स्थिति बहुत बेहतर है, साथ ही नए दैनिक रोगियों की संख्या धीरे-धीरे कम हो रही है।

बहुत से लोग कह रहे हैं कि भारत कुल रोगियों की संख्या और रोग से मरने वालों की संख्या में विश्व में दूसरे स्थान पर है, और स्थिति बहुत बिगड़ रही है। लेकिन कुल जनसंख्या के अनुपात में देखा जाए तो भारत की स्थिति उतनी बुरी नहीं है। उदाहरण के लिए स्पेन की जनसंख्या 4.6 करोड़ है, अब तक वहां करीब 7.7 लाख रोगी हुए हैं और करीब 31 हजार रोगियों की मृत्यु हुई है। अगर भारत में स्पेन जैसी बीमारी होती अब तक 2 करोड़ से अधिक रोगी होते और करीब 8.6 लाख रोगियों की मृत्यु हुई होती।

सितम्बर के अंत में मुम्बई में हुए नए सीरो-सर्वे में शहर के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के रक्त की जांच की गई। इसके अनुसार झोपड़पट्टी वाले क्षेत्रों में रहने वाले 57 प्रतिशत लोगों के रक्त में कोविड-19 रोग की एंटीबॉडी पाई गईं, यानि इस रोग के कीटाणु उनके शरीर में जा चुके हैं और अब उन्हें इस बीमारी का दोबारा होने की सम्भावना बहुत कम है। मध्यम और उच्च वर्ग के रहने वाले क्षेत्रों में यह एंटीबॉडी केवल 18 प्रतिशत लोगों में पाई गई।

ऐसा ही एक सीरो-सर्वे कुछ सप्ताह पहले दिल्ली में हुआ था, जिसके अनुसार 33 प्रतिशत दिल्लीवासियों के रक्त में यह एंटीबॉडी हैं। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा सर्वे अगस्त में किया गया था, जिसके अनुसार भारत की 7 प्रतिशत जनसंख्या में यह एंटीबॉडी पाई गई थी। इसका अर्थ है कि अगले महीने में बीमारी धीरे-धीरे बड़े शहरों में कम होगी और छोटे शहरों की ओर बढ़ेगी।

आगे क्या होगा

मुंह, गले और फेफड़ों में फैलने वाली बीमारियां सर्दियों में अधिक फैलती हैं, क्योंकि सर्दी से बचने के लिए दरवाजे खिड़कियां बंद कर लेते हैं, जिससे बंद जगहों में कीटाणुओं को एक व्यक्ति से दूसरे तक जाने में सहूलियत हो जाती है। शीत से शरीर की रोगों से लड़ने की स्वाभाविक शक्ति भी कम हो जाती है। इसलिए विषेशज्ञों को डर है कि आने वाले महीनों में यह रोग अधिक तेजी से फैलेगा, जिसे 'कोविड-19 रोग की दूसरी लहर' का नाम दिया जा रहा है।

बहुत से लोग वैक्सीन के आने की प्रतीक्षा में हैं। वृद्ध तथा अन्य बीमारियों से कमजोर व्यक्तियों को सलाह दी जा रही कि वह फ्लू की नई वेक्सीन जो इन्हीं दिनों में बाजार में आ रही है, उसे अवश्य लगवाएं, क्योंकि उससे उनकी रोग से लड़ने की शक्ति में कुछ बढ़ाव होगा। साथ ही विषेशज्ञों का कहना है कि स्थिति अगले वर्ष मार्च या मई से पहले नहीं सुधरेगी।

इस महामारी का सामान्य जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। अगर आर्थिक बजट की दृष्टि से देखा जाए तो भारत में और बहुत से विकासशील देशों में सरकारी प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को अधिक महत्व नहीं दिया जा रहा था। पिछले दो दशकों में पूरे विश्व में सरकारी स्वास्थ्य सेवा को कम करके निजी स्वास्थ्य सेवाओं को बढ़ावा दिया जा रहा था, क्योंकि स्वास्थ्य सेवा को आमदनी के तराजू पर तौल कर केवल खर्च के रूप में देखा जा रहा था। इस महामारी ने उन सब देशों को आईना दिखाया है और प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के महत्व की समझ दी है। महामारी बीतने के बाद, इसका पाठ कितनी सरकारें याद रखेंगी और अपनी स्वास्थ्य नीतियों में बदलाव लाएगी, यह कहना कठिन है।

जब इस महामारी के फैलने के पहले समाचार आए थे, तो कई देशों में प्रमुख नेताओं ने कहा था कि महामारी के खतरे की बातें अतिशयोक्ति थीं, लोगों को डराने के लिए वैज्ञानिक उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे थे। उनमें से कुछ ने तालाबंदी करने, मास्क पहनने आदि से इनकार कर दिया था। इनमें इग्लैंड के प्रधानमंत्री बोरिस जॉह्नसन, ब्राजील के राष्ट्रपति बोसोनारो और अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प थे। बोरिस जॉह्नसन और बोलसोनारो को तो पहले ही महामारी ने अपने चंगुल में लेकर अपने खतरे की चेतावनी दे दी थी। अब अमरीका में ट्रम्प की भी बारी भी आ गई है। शायद इससे सभी देशों के नेताओं को समझ मिलेगी कि देश की स्वास्थ्य सेवाओं का निजीजकरण उचित रास्ता नहीं है।

कुछ वर्ष पहले इजराईली इतिहासकार व दर्शनशास्त्री यूवाल नोह हरारी ने एक किताब लिखी थी 'सेपिएन्स', यानि आधुनिक मानव। उनका कहना था कि मानव इतिहास में यह पहली बार हुआ था कि विश्व में सड़कों पर एक्सीडेंट से मरने वालों की संख्या युद्धों लड़ाईयों में मरने वालों से कई गुना अधिक थी और मोटापे से जुड़ी बीमारियों से मरने वालों की संख्या भूख से मरने वालों से कई गुना अधिक थी। उन्होंने भविष्य में उठने वाले बदलावों में कृत्रिम बुद्धि का तकनीकी विकास और रोबोट आदि की सहायता से होने वाले स्वचलित मशीनों के विकास की बात की थी। उनके विचार में औद्योगिक क्रांति से जिस तरह सारे विश्व के सभी समाजों को बदलना पड़ा था, उसी तरह से कृत्रिम बुद्धि और स्वचलित मशीनों की एक नई क्रांति होने वाली है, जिसके लिए मानवता को तैयार करना है।

ऐसे भविष्य की बातों में कोविड-19 जैसी महामारी का आना जैसे प्रकृति का मानवता को यह याद दिलाना है कि जिस अतीत को हम सोचते हैं कि बहुत पीछे छोड़ आए हैं, वह पीछे नहीं है, किनारे पर ताक लगाकर खड़ा है कि कब मानवता कमजोर होगी या गलत कदम उठाएगी, और वह अतीत महामारी बनकर फिर से लौट आएगा। ■

हाथरस की बेटी की मौत एक सरकारी खून है

देवनूर महादेव

जिन हालातों में हाथरस की बेटी की मौत हुई और उसके बाद जिस तरह बर्ताव उसके शव के साथ किया गया, उसको देखते हुए क्या उसको न्याय मिल सकता है? हाथरस गैंगरेप पीड़िता का अंतिम संस्कार करते पुलिसकर्मी। (फोटोः पीटीआई) हाथरस गैंगरेप पीड़िता का अंतिम संस्कार करते पुलिसकर्मी। (फोटोः पीटीआई) यह सोचने में भी वीभत्स है कि हाथरस की बेटी रचना (परिवर्तित नाम) की मौत- यह मौत नहीं है, एक खून है, जो उत्तर प्रदेश की पुलिस ने वहां की सरकार की इच्छा के मुताबिक किया है। यह मौत नहीं है। पहले तो उस बलात्कार पीड़िता जो की अधमरी हालत में थी, उसे पुलिस स्टेशन में सात-आठ घंटे इंतजार करवाया जाता है। कानूनन उसे रेप क्राइसिस सेंटर ले जाना चाहिए था, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। कानूनन 24 घंटे के अंदर मेडिकल टेस्ट करवाना था, लेकिन जानबूझकर इसमें देरी की गई, जिससे सीमेन के अंश अगर हों, तो वो भी न मिल पाएं। मरने से पहले रचना ने अपने बयान में यह साफ कहा था कि उसके साथ बलात्कार हुआ है, फिर भी वहां के पुलिस वरिष्ठ बयान देते हैं, बलात्कार नहीं हुआ है, टेस्ट में स्पर्म नहीं पाए गए हैं।

उसे उत्तर प्रदेश के अस्पताल से दिल्ली के सफदरजंग भेजा गया था। जिला मजिस्ट्रेट उसके परिवार को धमकी देते हैं। यह सब देखकर पुलिस, प्रशासन को लगा होगा कि अगर यह बच गई तो गवाह बन जाएगी। इसके बाद उन्होंने वो सब किया कि वो जिंदा न बचे! हां, रचना की मौत एक सरकारी खून है। जुल्म का कारवां यहीं नहीं रुकता, रचना को इस तरह से मारने के बाद भी, ताकि उसकी लाश के फिर से पोस्टमॉर्टम न हो, रचना की लाश को रात के 1.30 बजे उसके गांव ले के आते हैं। पुलिस रचना की लाश को रात के अंधेरे में पेट्रोल डालकर जला देती है। उसके माता-पिता को अंतिम संस्कार करने का मौका नहीं दिया जाता। यहां तक कि उन्हें एक आखिरी बार अपनी बेटी का चेहरा भी देखने का मौका नहीं दिया जाता। 'हमारे रिवाज के हिसाब से बेटी के मुंह पर हल्दी लगाने दो,' यह कहते हुए मां गिड़गिड़ाती रही, लेकिन पुलिसवालों ने सुना नहीं और रात के ढाई बजे उसे जलाकर राख कर दिया। ऐसे हालात में क्या न्याय मिल सकता है? न्याय मिलने से क्या उसके माता-पिता को सांत्वना मिल सकती है? कहना मुश्किल है, बहुत मुश्किल। आजकल सुनने में आ रहा है कि 'भाजपा से बेटी बचाओ।' और हमारे न्यायपालिका की व्यवस्था देख के तो डर ही लगता है। हाल ही में हुए बाबरी मस्जिद के फैसले को अगर देखे तो, मस्जिद के ढांचे को ध्वंस करते समय आरोपी हादसे के वक्त उसी जगह पर थे तब भी वो छूट जाते हैं। दूसरी ओर एल्गार परिषद में कोई हिंसा नहीं हुई, आनंद तेलतुंबड़े और उनके साथी उस कार्यक्रम में भी शामिल नहीं थे लेकिन फिर भी उन्हें आरोपी बनाकर, बिना पूछताछ किए जेल में डाल दिया जाता है।

आज के दिन में न्यायपालिका और न्याय देने की व्यवस्था को देखे तो लगता है कि प्राचीन काल की अन्यायपूर्ण मनुस्मृति में जाति व्यवस्था के हिसाब से सजा दी जा रही हैं। कहां, किस तरफ जा रहा है मेरा भारत? आगे या पीछे? आज हमारी न्यायपालिका और कानून व्यवस्था दोनों न्याय के आगे कटघरे में अपराधी के स्थान पर खड़े हैं। भारत दिशाहीन हो रहा है। आखिर में मेरी एक विनती है- बेटी रचना को जहां जलाया था वहां से, या जिस जमीन पे वो जली थी, वहां से मुट्ठीभर मिट्टी ला दो 'उससे एक स्मारक

हाथरस की घटना कई सवाल खड़ा करती है। पहला यह कि पुलिस प्रशासन को गैंग पीड़िता का शव इतनी भी जल्दी क्या थी, जो जला दिया। प्रशासनिक, राजनैतिक, ऊंच-नीच का फर्क सबकुछ सवालों के घेरे में।

स्थल बनाकर वहां उसकी एक प्रतिमा बनाकर, जिस मां ने उस बच्ची को जन्म दिया, उसकी इच्छा के अनुसार रचना के गाल पर हम सब मिलकर हल्दी लगाएंगे' तब क्या ऐसा लगेगा कि हमने भी रचना को मरणोपरांत श्रद्धांजलि अर्पित की? इससे रचना के माता पिता को और भारतमाता को क्या थोड़ी-सी सांत्वना मिलेगी? यह सवाल मैं भारत के ज़मीर के सामने रख रहा हूं। ■

(देवनूर महादेव वरिष्ठ कन्नड़ लेखक हैं। मूल कन्नड़ लेख से राजशेखर अक्की और स्वाति शुक्ला द्वारा अनूदित)

अब भी आप भयभीत नहीं हैं तो फिर आपके साथ कोई समस्या है

डॉ राजू पाण्डेय

हाथरस की घटना को उत्तरप्रदेश एवं देश में तेजी फैल रही निरंकुश, अराजक, स्वेच्छाचारी और हिंसक मनोवृत्ति से अलग कर एक एकाकी घटना के रूप में प्रस्तुत करने की छटपटाहट मुख्य धारा के मीडिया में स्पष्ट देखी जा सकती है- एक ऐसी घटना जिसके लिए निजी कारण और स्थानीय परिस्थितियां जिम्मेदार हैं। स्वाभाविक रूप से इसके समाधान का स्वरूप भी वैसा ही व्यक्तिगत और स्थानीय होगा। घटना को एक ऐसे अंजाम तक पहुंचाने की कोशिश हो रही है कि वह पीड़ित और अपराधी के बीच का निजी मामला बन जाए जिससे उसका वर्ग चरित्र छिप जाए और इस घटना के बहाने वंचित समुदाय में वर्ग चेतना जाग्रत न होने पाए।

देश के सबसे बड़े सूबे के बड़े ताकतवर मुख्यमंत्री ने एक दलित-दबे-कुचले-पीड़ित-भयभीत, अनिष्ट की आशंका से आतंकित पिता से वीडियो कॉल के जरिए बात की और उसे बढ़े हुए मुआवजे, परिवार के सदस्य को नौकरी, रहने के लिए मकान तथा दोषियों पर कठोर कार्रवाई का आश्वासन दिया। निश्चित ही उस हताश-निराश और भयभीत व्यक्ति के लिए यह राहत पैकेज बहुत आकर्षक है और हो सकता है कि वह अब उन सुझावों को मान ले जो निश्चित ही स्थानीय पुलिस और प्रशासन द्वारा कभी उसे धमकी की जबान में और कभी सलाह के रूप में दिए जा रहे होंगे। इन सुझावों से हर वह व्यक्ति अवगत है जो अत्याचार का शिकार है और निर्धन तथा दलित होने के बावजूद अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की जुर्रत करता है- अब लड़की तो वापस आने से रही, किस्मत वाले हो इतने बड़े आदमी बिना कहे इतनी मदद दे रहे हैं, चुपचाप उनकी बात मान लो, नेताओं के चक्कर में मत पड़ो, कोई काम नहीं आएगा। जब इन सुझावों को सुनने के बाद भी किसी अत्याचार पीड़ित दलित की आंखों में विद्रोह की ज्वाला फिर भी धधकती दिखती है तो फिर यह सुझाव धमकी का रूप ले लेते हैं- ज्यादा अकड़ बताओगे तो जो है वह भी चला जाएगा, बाज आ जाओ। निजी चैनलों पर पीड़ित परिवार के हवाले से यह खबर चल रही है कि पीड़िता के परिजनों को भयभीत करने का सिलसिला जारी है। डीएम ने उन्हें धमकी देते हुए कहा कि मीडिया वाले तो चले जाएंगे-हम रहेंगे। पुलिस ने भी पीड़ित युवती के घरवालों से कहा कि अगर तुम्हारी बेटी कोरोना से मरती तो मुआवजा नहीं मिलता अब जो मिल रहा है चुपचाप ले लो। यदि मीडिया में आ रही यह खबरें सत्य हैं तो संकेत बहुत खतरनाक और घबराने वाले हैं। जिस जघन्य अपराध के लिए मनुष्यता शर्मसार है ऐसा लगता है कि उत्तर प्रदेश सरकार के लिए यह गौरव का विषय है, तब तो ऐसे अधिकारी न केवल अपने पदों पर बरकरार हैं बल्कि बड़ी ढिठाई से अपनी करतूतों पर पर्दा डालने में लगे हैं। एसआईटी की जांच के बहाने और कभी कोरोना की आड़ में मीडिया को पीड़िता के परिवार वालों से मिलने से रोका गया है और उन्हें घटनास्थल से एक किलोमीटर की दूरी पर रखा गया है। राहुल और प्रियंका जैसे देश के शीर्ष नेताओं को बिना समुचित कारण के हिरासत में ले लिया गया है ताकि पीड़िता के परिजनों से उनकी मुलाकात न हो सके। यह घटनाक्रम अविश्वसनीय रूप से निर्लज्ज और दमनकारी है।

बहरहाल कोशिश यह है कि पीड़ित परिवार के लिए सौगातों की ताबड़तोड़ घोषणा कर और एसआईटी का गठन कर योगी आदित्यनाथ इस पूरे प्रकरण में अमानवीयता की हदें पार करने वाले पुलिस एवं प्रशासन की कार्य प्रणाली से खुद को अलग कर लें। ऐसा जाहिर किया जाने लगेगा कि प्रदेश के मुख्यमंत्री (जिनके पास गृह विभाग भी है) अपराधियों को संरक्षण देने वाली, पीड़िता के परिवार को धमकाने वाली और सबूत नष्ट करने के लिए पीड़िता के शव को रात्रि में ही जबरन जलाने वाली उत्तर प्रदेश पुलिस के कार्यकलापों से अवगत ही नहीं थे। जब देश के अति संवेदनशील प्रधानमंत्री ने फोन पर उन्हें समझाइश दी तब भोले-भाले मुख्यमंत्री ने तहकीकात की और गलती पता कर तत्काल कार्रवाई की। रात की बहसों में सरकार के प्रवक्ताओं को गरजने का अवसर मिल जाएगा- क्या मनमोहन सिंह ने निर्भया प्रकरण में ऐसी सक्रियता दिखाई थी? क्या किसी कांग्रेसी मुख्यमंत्री ने आज तक किसी बलात्कार पीड़िता के पिता से वीडियो कॉल कर बात की थी? हममें और दूसरे दलों में यह फर्क है कि हमें पता चलते ही हम किसी अपराधी को नहीं बख्शते। जब पीड़ित परिवार मुख्यमंत्री से बात करने के बाद संतुष्ट होता दिख रहा है तब उसे बहकाने की कोशिश प्रियंका क्यों कर रही हैं? कांग्रेस शासित राज्यों के बलात्कार क्या राहुल-प्रियंका को नहीं दिखते? आजकल प्रचलित वह प्रसिद्ध उक्ति भी दुहराई जाएगी कि इस संवेदनशील मामले पर सियासत नहीं होनी चाहिए-बिल्कुल उसी तरह जैसे श्रमिकों के मूलभूत अधिकारों को नकारने वाली श्रम संहिताओं और कृषि में कॉर्पोरेट्स को लूट की छूट देने वाले कृषि सुधारों पर भी

राजनीति करना मना है। सत्ताधारी दल से पूछा जाना चाहिए कि पूरे सिस्टम व समाज की कार्यप्रणाली और सोच पर गहरे प्रश्नचिह्न लगाती हाथरस घटना पर राजनीति नहीं होगी तो किन विषयों पर होगी? क्या सोमनाथ मंदिर और रिया-सुशांत मामले जैसे आभासी, गैरजरूरी, जबरन थोपे गए, मीडिया निर्मित महत्वहीन मुद्दों पर राजनीति होनी चाहिए?

प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में उत्तरप्रदेश और देश में हो रही बलात्कार की अनेक घटनाओं की चर्चा है। बुलंदशहर और आजमगढ़ की घटनाओं में आरोपी संभवतः अल्पसंख्यक समुदाय के हैं। मीडिया में होने वाली बहसों में अब सत्ताधारी दल के प्रवक्ता पहले इस पहचान को छिपाते-छिपाते उजागर करेंगे और फिर

एसआईटी की जांच के बहाने और कभी कोरोना की आड़ में मीडिया को पीड़िता के परिवार वालों से मिलने से रोका गया है और उन्हें घटनास्थल से एक किलोमीटर की दूरी पर रखा गया है। देश के शीर्ष नेताओं को बिना कारण के हिरासत में ले लिया ताकि पीड़िता के परिजनों से वे मिल न सकें।

यह गर्जना करेंगे कि हम तो अपराधी का जाति-धर्म नहीं देखते, यह तो विपक्ष है जो दलित-सवर्ण का एंगल ला रहा है। कुछ कट्टर हिंदूवादी संगठनों के प्रवक्ता यह कहने लगेंगे कि जब मुसलमान लड़का हिन्दू लड़की का बलात्कार करता है तब आपको क्यों सांप सूंघ जाता है? लव जिहाद के विषय में आपका क्या कहना है? फिर बात 'भारतीय इतिहासातील सहा सोनेरी पाने' में सावरकर द्वारा वर्णित इतिहास के उस हिंसक और प्रतिशोधी आख्यान तक जा पहुंचेगी, जिसके अनुसार धर्म भ्रष्ट करने के लिए मुगल शासक हिन्दू स्त्रियों के साथ दुष्कर्म करते और फिर उन्हें अपने हरम में रख लेते थे और आज के हिंदुओं को उन मुगल बादशाहों के कथित वंशजों से उस कथित अपराध का बदला लेना चाहिए। इसके बाद बलात्कार की भीषणता और दोषियों को दंडित करने में सरकार की नाकामी पर चर्चा के स्थान पर इस बात पर बहस होने लगेगी कि क्या बलात्कार धर्म सम्मत और नीति सम्मत भी हो सकते हैं? इस प्रकार जातिवाद के जिंदा जहर की शिकार असंख्य बलात्कार पीड़िताओं का करुण क्रंदन धार्मिक घृणा के काल्पनिक इतिहास के वहशी ठहाकों में खो जाएगा। ऊंची जातियों के वर्चस्व को प्रदेश और देश की राजनीति का आधार बनाने वाले नेताओं और उनकी विचारधारा पर चर्चा न होने पाए इसलिए बलात्कार पर राष्ट्रव्यापी चर्चा का ढोंग रचा जाएगा। यह चर्चा पोर्न फिल्मों, नैतिकता के गिरते स्तर, युवतियों के अंग दिखाऊ कपड़ों तथा मोबाइल के दुरुपयोग की गलियों में तब तक भटकती रहेगी जब तक हाथरस की घटना की न्यूज वैल्यू समाप्त नहीं हो जाती। यह मानवीय त्रासदियों को हिंसक और आपराधिक बौद्धिक विमर्श द्वारा महत्वहीन बना देने का युग है।

हाथरस की घटना सवर्ण जातियों का हिंसक उद्घोष है कि काल का पहिया पीछे घुमा दिया गया है और संविधान के जरिए निचली जातियों ने समानता की जो थोड़ी बहुत झलक देखी थी, उसे अब उन्हें स्वप्न मान लेना चाहिए, हम वापस उस मध्ययुगीन भारत में लौट रहे हैं जब सवर्णों की तूती बोलती थी और दलितों को जूते तले रखा जाता था। फुले-गांधी-आंबेडकर की विरासत को हमने नकार दिया है। चाहे उन्नाव की घटना हो या हाथरस की- जिस तरह की बर्बरता और पाशविकता बलात्कार पीड़िताओं के साथ की गई है, जिस तरह के अत्याचार पीड़िता के परिजनों के साथ किए गए हैं, जिस तरह पुलिस-प्रशासन और सत्ताधीशों ने आरोपियों को संरक्षण देने और दुःखी परिजनों को भयाक्रांत करने की कोशिशें की हैं- उसके बाद भी यदि इन बलात्कार की घटनाओं को यौन सुख के लिए काम विकृत व्यक्तियों के कृत्य के रूप में परिभाषित किया जाता है तो या तो यह हद दर्जे की मासूमियत है या इससे भी ऊंचे स्तर की चालाकी। इन घटनाओं में नव सामंतों ने यह संदेश देने की कोशिश की है कि वंचितों के आत्मसम्मान की हर आवाज को कुचल दिया जाएगा, निचली जातियों के भाग्य में अधीनता, सेवा और दास्य भाव ही लिखे हैं। अपमान के प्रतिकार की कल्पना तो दूर अपमान का बोध करने की क्षमता भी यदि वंचित समुदायों में बरकरार है तो उन्हें दंडित होना होगा और फिर दलित स्त्रियां तो आत्माहीन उपभोग की वस्तुएं हैं-ऐसे खिलौने जिनसे टूटते तक मन बहलाया जाता है।

भारत के उन ग्रामीण इलाकों में जहां जातिवाद राजनीति, लोक व्यवहार और समाज व्यवस्था के संचालन में निर्णायक तत्व होता है वहां स्थिति इतनी भयानक है कि वंचित समुदाय की स्त्रियां ताकतवर लोगों के यौन शोषण की इतनी अभ्यस्त हो चुकी होती हैं कि यह उन्हें विचलित नहीं करता बल्कि इसे वे अपनी नियति मान चुकी होती हैं।

यह हमारी समाज व्यवस्था की सबसे बड़ी विडंबना है कि न तो शोषक में कोई ग्लानि है न ही पीड़ित में कोई आक्रोश शेष रह गया है, और तो और हम जैसे प्रबुद्ध लोगों से निर्मित समाज भी इन अत्याचारों से व्यथित नहीं होता और हम सब अपनी सुविधानुसार रणनीतिक मौन या सांकेतिक विरोध का आश्रय लेते रहते हैं। ऊंची जातियां दलित स्त्रियों के यौन उत्पीड़न को अपना अधिकार मानती हैं और पीढ़ियों तक दमन सहते-सहते दलित स्त्रियां भी इसे कर्तव्य के रूप में स्वीकार लेती हैं। मानवीय संवेदनाओं का मर जाना किसी समाज के लिए सबसे भयंकर त्रासदी हो सकती है और हम उसी ओर अग्रसर हैं। ऐसा नहीं है कि पितृसत्तात्मक समाज सवर्ण स्त्रियों पर कोई रियायत करता है। कभी निकट संबंधी, कभी मित्र, कभी कार्य स्थल का साथी या अधिकारी- पितृसत्तात्मक मानसिकता नाना रूप धारण करती है। बलात्कार विषयक न्यायिक प्रक्रिया पर पितृसत्ता की ऐसी अमिट छाप

लगी हुई है कि हर कानूनी संशोधन बेअसर हो जाता है। लेकिन यह भी ध्रुव सत्य है कि ऊंची जातियों की स्त्रियों को दलित स्त्रियों की तुलना में पुरुषों के अत्याचार से संघर्ष करने के बेहतर अवसर उपलब्ध होते हैं और समाज तथा राजसत्ता का रवैया भी उनके प्रति किंचित नरम एवं उदार होता है। ऐसा विशेषकर तब होता है जब बलात्कारी सजातीय नहीं होता और उसकी कोई ऐसी अलग धार्मिक या जातीय पहचान होती है, जो राजसत्ता के राजनीतिक हितों की सिद्धि के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। ऊंची जातियों की स्त्रियों के लिए यौन उत्पीड़न एक भयंकर घटना है किंतु अधिकांश दलित स्त्रियों के लिए यह दैनंदिन जीवन का एक भाग है।

पहले फार्मूला फिल्मों में सरकार, पुलिस और न्याय व्यवस्था को अपनी मुट्ठी में रखने वाले अत्याचारी और विलासी जमींदारों के किस्से एक प्रिय विषय हुआ करते थे। हम इन फार्मूला फिल्मों की अतिरंजित प्रस्तुति के लिए आलोचना भी करते थे और इन्हें यथार्थ से दूर ले जाने का दोषी भी ठहराते थे। किंतु योगी जी के उत्तरप्रदेश में दलितों और महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों को देखकर ऐसा लगता है कि इन फार्मूला फिल्मों में दिखाया जाने वाला काल्पनिक अतिरंजित अत्याचार अब दैनिक जीवन का यथार्थ बन गया है।

योगी जी प्रतीकों की राजनीति में निष्णात हैं। हम उन्हें दलितों के घर में भोजन करते और नवरात्रि में कन्याओं का पूजन करते देखते हैं। किंतु जिस तरह उत्तर प्रदेश का शासन चल रहा है वह दो वर्गों के वर्चस्व को इंगित करता है। व्यापक तौर पर हम बहुसंख्यक समुदाय के धार्मिक वर्चस्व को प्रदेश की राजनीति पर हावी होते देख रहे हैं किंतु जब हम सूक्ष्मता से अवलोकन करते हैं तो यह ऊंची जातियों के वर्चस्व में बदलता नजर आता है। योगी शब्द हिंदू धर्म परंपरा में बहुत पवित्र एवं उच्च स्थान रखता है। इससे निष्पक्षता, उदारता और अनासक्ति एवं समदर्शिता जैसे गुण सहज ही संयुक्त हो जाते हैं। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री जी ने योगी आदित्यनाथ नाम अवश्य धारण किया है किंतु लगता है उनके भीतर का अजय सिंह बिष्ट समाप्त नहीं हो पाया है।

पिछले कुछ वर्षों में संघ ने दलितों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। दलितों को संघ के बौद्धिक प्रशिक्षण के दौरान अनेक प्रेरक प्रसंग भी सुनाए जाते हैं। एक प्रसंग 1969 में उडुपी में हुए हिन्दू सम्मेलन का है। कहा जाता है कि गोलवलकर के प्रयासों से इस देश के शीर्षस्थ धर्माचार्यों की उपस्थिति में 'हिन्दवः सोदरा सर्वे' और 'न हिन्दू पतितो भवेत' जैसे सिद्धांतों को अंगीकार किया गया था एवं छुआछूत मिटाने के लिए प्रस्ताव पारित हुआ था और इसके बाद गंभीर छवि वाले गोलवलकर को खुशी से झूमते देखा गया था। दूसरा प्रसंग सावरकर से जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि उन्होंने 1929-1937 के बीच रत्नागिरि में छुआछूत मिटाने का विशाल अभियान चलाया था। आज उडुपी में पारित प्रस्ताव को पांच दशक बीत गए हैं और विगत 6 वर्षों से संघ अप्रत्यक्षतः भारतीय राजनीति की दिशा तय करने में निर्णायक भूमिका निभा रहा है तब यह मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि भाजपा शासित राज्यों में दलितों के दमन की घटनाओं में असाधारण वृद्धि क्यों हो रही है? उदारचेता महात्मा गांधी ने सावरकर और गोलवलकर से अछूतोद्धार के विषय पर संवाद का सेतु अवश्य कायम रखा था किंतु गांधी यह भली प्रकार जानते थे कि अल्पसंख्यक समुदायों और अन्य धर्मावलंबियों के प्रति घनघोर घृणा और प्रतिशोध का भाव रखने वाली यह कट्टर हिन्दूवादी शक्तियां कभी भी दलितों को वास्तविक सत्ता नहीं दे सकतीं। गांधी उस विरोधाभास को भली प्रकार समझते थे कि नस्लीय सर्वोच्चता और रक्त की शुद्धता के लिए हिंसा की खुली वकालत करने वाली विचारधारा कभी भी समावेशी नहीं हो सकती। संघ का दलित प्रेम अल्पसंख्यकों और अन्य धर्मावलंबियों के प्रति गहन घृणा से सना हुआ है। आंबेडकर भी यह भली प्रकार जानते थे कि मनु स्मृति पर अगाध श्रद्धा रखने वाली विचारधारा कभी दलितों को निर्णायक और केंद्रीय स्थिति नहीं प्रदान कर सकती इसीलिए उन्होंने धर्म के विमर्श को नकारते हुए संविधान के माध्यम से दलितों को अधिकार संपन्न बनाने की चेष्टा की।

हमेशा की तरह देश की स्त्रियां धर्म, जाति और राजनीति के विमर्श में उलझकर हाथरस घटना की खुलकर निंदा या प्रखर विरोध से परहेज कर रही हैं। शायद वे भूल रही हैं कि दुनिया के प्रत्येक धर्म पर पितृसत्ता की छाप है और इनकी कोशिश नारी को बंधनों में बांधकर सेविका और सहायिका की भूमिका तक सीमित करने की रही है। प्रत्येक जाति के भीतर नारी की स्थिति कमोबेश एक जैसी है- चिंताजनक रूप से दयनीय। पितृसत्ता और राजनीतिक वर्चस्व के रिश्ते जगजाहिर हैं। दरअसल शोषक वर्ग और पितृसत्ता की जेनेटिक

ऊंची जातियां दलित स्त्रियों के यौन उत्पीड़न को अपना अधिकार मानती है और पीढ़ियों तक दमन सहते-सहते दलित स्त्रियां भी इसे कर्तव्य के रूप में स्वीकार लेती हैं। मानवीय संवेदनाओं का मर जाना किसी समाज के लिए सबसे भयंकर त्रासदी हो सकती है और हम उसी ओर अग्रसर हैं।

संरचना एक जैसी है। किंतु नारियां अपने समर्थन और विरोध में, अपने प्रेम और घृणा में, पुरुष को ही आदर्श मानती रही हैं और अपनी मौलिकता खोकर पुरुष की प्रतिक्रिया और प्रतिकृति बनने को ही क्रांति मान बैठी हैं। यही कारण है कि हाथरस की घटना पर हो रहे विमर्श से बड़ी आसानी से नारी को गायब किया जा सकता है। जब तक शोषित, शोषक को अपना आदर्श मानते रहेंगे और जब तक शोषकों की मूल्य मीमांसा को स्वीकार करते रहेंगे तब तक शोषण तंत्र की समाप्ति असंभव है। ■

शिक्षा की चुनौतियां

मैं ने पिछले तीन साल चेन्नई में अपनी बेटी के साथ गुजारे। वहां पर कई स्कूलों ने मुझे बच्चों को विज्ञान के सस्ते, सरल मॉडल दिखाने के लिए बुलाया। वहां का एक सबसे अच्छा, नामी-गिरामी स्कूल है, जिसमें मुख्य रूप से उच्च जाति, उच्च वर्ग के बच्चों का ही बाहुल्य है। इस स्कूल के बच्चे भारत की महान विविधता से सदैव वंचित रहेंगे। वे कभी किसी मुस्लिम बच्चे के बगल में नहीं बैठेंगे और न ही किसी दलित बच्चे के साथ भोजन करेंगे। अनुभवों की यह संकीर्णता बड़े होने पर बच्चों को धर्मांधता की ओर धकेलती है। हमें बच्चों के अनुभवों को व्यापक और समृद्ध करना चाहिए। राइट-टू-एजुकेशन अधिनियम के तहत, स्कूलों में सीटों का एक निश्चित प्रतिशत गरीबों को जाना चाहिए था। लेकिन अमीर स्कूलों ने इस आरक्षण का विरोध करके उसे बिल्कुल नाकाम बना दिया है।

ऐतिहासिक पुस्तक तोत्तोचान (1981) में, जापानी लेखिका टेटसुको कुरोआनागी ने अपने बचपन के प्रगतिशील स्कूल का वर्णन किया है। स्कूल के प्रिंसिपल कोबायाशी, विकलांग (विशेष-जरूरतों) वाले बच्चों को जानबूझकर दाखिल करते थे। क्योंकि उनका मानना था कि उससे बाकी बच्चे अधिक संवेदनशील बनेंगे। नई दिल्ली की सेंट मैरी स्कूल की दूरदर्शी प्रिंसिपल एनी कोशी इसमें अग्रणी हैं। उनके स्कूल में बीस प्रतिशत बच्चे 'विशेष' हैं - हियरिंग-एड्स पहने, बैसाखी, व्हीलचेयर, कुछ दृष्टिबाधित और मानसिक रूप से विकलांग हैं। दूसरे बच्चे इन बच्चों की पूरे दिल से मदद करते हैं और इस प्रकार करुणा और सहानुभूति का पहला सबक सीखते हैं।

दलित, मुस्लिम और आदिवासी बच्चे स्कूलों में उच्च जाति के शिक्षकों से लगातार अपमानित किए जाते हैं। लेटर टू ए टीचर (1967) पुस्तक को इटली के बारबियाना स्कूल के भूमिहीन किसानों और श्रमिकों के आठ बच्चों ने लिखा है। इस किताब का पहला वाक्य है, 'स्कूल गरीबों के खिलाफ एक युद्ध है।'

1960 के दशक में, एक गांधीवादी सामाजिक संगठन अंतर-भारती ने राष्ट्रीय एकीकरण का एक अभिनव कार्यक्रम शुरू किया। उन्होंने देश के सभी राज्यों के बच्चों को एक पखवाड़े के लिए पुणे स्थित परिवारों के साथ रहने के लिए आमंत्रित किया। केरल, पूर्वोत्तर और पंजाब के बच्चे, महाराष्ट्रीयन परिवारों के साथ आकर रहे। बच्चों ने महसूस किया कि वहां के भोजन का स्वाद अलग था, भाषा अलग थी, संस्कृति भी बहुत अलग थी, लेकिन फिर भी वे अच्छे, गर्मजोश और नेक लोग थे। इसी प्रकार के समृद्ध अनुभवों से लोगों में वैमनस्य दूर होता है।

सरकार को अपने ही स्कूलों की कोई परवाह नहीं है। 1990 के दशक में उदारीकरण की शुरुआत के बाद से, भारत सरकार ने जानबूझकर सरकारी स्कूलों के बजट में कटौती की - और उनकी गुणवत्ता को लगातार नीचे गिराया। सरकारी स्कूलों को खुद ध्वस्त करने के बाद सरकार अब उन्हें पीपीपी (पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) के नाम पर निजी खिलाड़ियों और धार्मिक ट्रस्टों को सौंपने के लिए तैयार है।

सरकारी स्कूलों की स्थिति इतनी खराब क्यों है? उच्च और मध्यम वर्ग की सरकारी स्कूलों में अब कोई रूचि और हिस्सेदारी नहीं बची है, क्योंकि उन्होंने अपने बच्चों के लिए इंटरनेशनल स्कूल स्थापित कर लिए हैं। गरीब वर्ग के पास अपने बच्चों को सरकारी या महंगे प्राइवेट स्कूलों में भेजने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। कुछ साल पहले, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल ने एक ऐतिहासिक निर्णय दिया था। उनकी सिफारिश थी कि सभी सरकारी अफसर और कर्मचारी अनिवार्य रूप से अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजें। जब सरकारी मुलाज़िमों के बच्चे इन स्कूलों में जाएंगे तो उनकी गुणवत्ता में अपनेआप तुरंत सुधार होगा! पर आज की व्यवस्था में यह असंभव लगता है।

देश में सरकारी शिक्षा व्यवस्था की दुर्दशा के लिए सरकारें जिम्मेदार हैं। प्राइमरी स्कूलों को सोची-समझी रणनीति के तहत बर्बाद कर दिया गया ताकि मजबूरी में लोग प्राइवेट स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाए। इनकी फीस न भरपाने में असहाय गरीब तबकों के बच्चे बर्बाद हैं।

फिनलैंड से सबक

फिनलैंड एक ऐसा देश है जिसने सार्वजनिक शिक्षा में अपना विश्वास बरकरार रखा है। 1980 में, फिनलैंड ने अपनी खराब शिक्षा प्रणाली को ठीक करने का निर्णय लिया। उन्होंने सभी निजी स्कूल बंद कर दिए और अपने सभी बच्चों को - अमीर, गरीब सभी को समान उच्च गुणवत्ता वाली शिक्षा दी। वहां सभी बच्चे पड़ोसी स्कूलों में जाते हैं। कोठारी आयोग द्वारा सुझाई गई सामान्य स्कूल प्रणाली की भारत के शासक वर्ग में कोई रूचि नहीं है।

फिनिश लोग मानते हैं कि स्कूल, बच्चों के लिए मौज-मस्ती करने की जगह होती है। इसलिए वहां मूर्खतापूर्ण परीक्षणों का बोझ नहीं होना चाहिए। 16 वर्ष की आयु तक वहां कोई परीक्षा नहीं होती

है। शिक्षकों और स्कूलों को पूर्ण स्वायत्तता दी जाती है। वहां टीचर ट्रेनिंग पर बहुत बल है। अधिकांश शिक्षक पीएचडी होते हैं।

उसका परिणाम है PISA टेस्ट (प्रोग्राम फॉर इंटरनेशनल स्टूडेंट्स असेसमेंट) में फिनिश बच्चे एक दशक से अधिक समय से टॉप पर हैं। फिनलैंड ने शिक्षकों की सामाजिक स्थिति को सुधारा और उनकी गरिमा प्रतिष्ठित की है। फिनलैंड में हायर सेकेंडरी के टॉप 10 प्रतिशत छात्र प्राथमिक स्कूली शिक्षक बनने का सपना देखते हैं। उसके लिए वे कड़ी प्रतिस्पर्धा करते हैं। यह IIT-JEE क्रैक करने जैसा होता है। फिनलैंड के एक प्राइमरी स्कूल टीचर को, भारत में एक डॉक्टर अथवा किसी IAS अधिकारी की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। फिनलैंड में सबसे होशियार छात्र, शिक्षक बनना चाहते हैं।

स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए, कुछ देशों ने कड़े कदम उठाए हैं - स्कूलों पर कड़ा नियंत्रण, अधिक सतर्कता, बायोमेट्रिक उपस्थिति, cctv कैमरे, स्कूलों के घंटों में बढ़त, खराब शिक्षकों को बर्खास्तगी आदि। लेकिन क्या यह उपाय कारगर साबित हुए हैं? वे बुरी तरह विफल रहे हैं और पुलिसिंग ने शिक्षकों के बीच में अधिक अविश्वास पैदा किया है।

हम एक चुनौतीपूर्ण काल में जी रहे हैं। चर्चा के लिए लोकतांत्रिक स्पेस सिकुड़ गई है। जो भी सरकार की नीतियों के बारे में थोड़ा भी आलोचनात्मक है, उसे राष्ट्र-विरोधी करार दिया जाता है, और ट्रोल किया जाता है। हरियाणा के एक स्कूल ने अपने बच्चों और शिक्षकों को जम्मू-कश्मीर में धारा 370 को खत्म करने के लिए पीएमओ की प्रशंसा के पत्र लिखने का आदेश दिया। जब स्कूल राजनीतिक दबावों में अपने घुटने टेक देंगे, तो हमारे बच्चों का भविष्य निश्चित रूप से अंधकारमय होगा। क्या इस प्रकार के स्कूल कभी आलोचनात्मक या वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा दे पाएंगे?

यह मुश्किल काल है। हमारे नेता लगातार बड़े-बड़े दावे करते हैं और विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हमारे अतीत को गौरवान्वित करते हैं। ये दावे अक्सर सस्ते प्रचार और झूठे होते हैं जिन्हें सुनकर दुनिया हम पर हंसती है।

बुद्ध ने 2,500 साल पहले कुछ बहुत गहरा कहाः
किसी चीज़ पर इसलिए यकीन मत करो
क्योंकि किसी ने तुमसे ऐसा करने को कहा है
या वो एक पुरानी परम्परा का हिस्सा है
या फिर तुमने खुद उसकी कल्पना की है
शिक्षकों की बात इसलिए मत मानों
क्योंकि तुम उनका आदर करते हो
हर चीज़ की ठोक-बजाकर जांच-परख करो
और विश्लेषण के बाद तुम्हें
जो बात लोगों के हित में लगे
उसे अपनाओ और अपने जीवन का लक्ष्य बनाओ।

कोविड से दुनिया बुरी तरह से प्रभावित है। पर जैसा हर आपदा में होता है, गरीबों पर कोविड की सबसे बड़ी मार पड़ी है। प्राइवेट स्कूलों की फीस दे पाने में असमर्थ लोग अपने बच्चों को अब सरकारी स्कूलों में डाल रहे हैं। पर उधर सरकार खुद अपने स्कूलों को बंद करने पर तुली है। लॉकडाउन में क्लासरूम से रिमोट लर्निंग की सबसे बड़ी मार दुनिया के गरीब लोगों पर पड़ी है। उनके पास लैपटॉप, स्मार्टफोन, इंटरनेट आदि का सामर्थ्य नहीं है। गरीब माँ-बाप जो खुद अनपढ़ हैं, उनमें अपने बच्चों को घर में बैठकर पढ़ाने की क्षमता भी नहीं है। लड़कियों पर इसका और दुष्प्रभाव पड़ा है। स्कूल बंद होने से पालक कम उम्र की लड़कियों की जल्दी शादी कर रहे हैं, बच्चे प्राइवेट मिलिशिया फौजों में भर्ती हो रहे हैं। बच्चे अपने माँ-बाप के साथ मज़दूरी करने को मज़बूर हैं। घरों में लड़कियों और महिलाओं पर लैंगिक दमन और अत्याचार बढ़ा है। यूनेस्को के अनुसार स्कूल बंद होने से दुनिया के 150-करोड़ बच्चे बुरी तरह से प्रभावित हुए हैं। विश्व युद्धों ने भी दुनिया के स्तर पर कोविड जितनी बड़ी तबाही नहीं मचाई।

इसका सबसे बड़ा लाभ गूगल, Jio और byju जैसे एडु-टेक कंपनियों को होगा और इसका लाभार्थी होगा उच्च और मध्यम वर्ग। वैसे भी ऑनलाइन वेबसाइट्स पर उच्च गुणवत्ता वाले साहित्य का अंग्रेजी में ही बोलबाला है। दुनिया में पुस्तकों का सबसे बड़ा भंडार (archiveÜorg) में मुफ्त डाउनलोड के लिए 2.7 करोड़ किताबें हैं। पर हिंदी जो दुनिया की तीसरी सबसे ज़्यादा लोकप्रिय भाषा है जिसे 60 करोड़ से अधिक लोग बोलते हैं में उच्च गुणवत्ता वाली बहुत कम सामग्री ही उपलब्ध है। हिंदी-समय और एक-दो अन्य वेबसाइट को छोड़कर हिंदी में फिलहाल बहुत कम अच्छी पुस्तकें ही उपलब्ध हैं। कोविड हमारे सामने एक मौका और चुनौती दोनों है - कि हम अपनी प्रांतीय भाषाओं की अपार धरोहर को डिजिटाइज़ करके लोगों को सहज उपलब्ध करवाएं। ■

लोहिया और उनकी प्रासंगिकता

यू. आर. अनंतमूर्ति

डॉ. राम मनोहर लोहिया मेरी दृष्टि में एक असाधारण चिंतक और साहसी समाजवादी जननेता थे। मैं उनका विद्यार्थी जीवन से ही प्रशंसक रहा हूं और आज भी उनकी अनेक प्रेरक स्मृतियां मेरे मन में जागृत रहती हैं। इनमें से चार प्रसंगों को बताना चाहूंगा।

मेरा 'संस्कार' उपन्यास उस दौरान लिखा गया जब मैं इंग्लैंड में छात्र था। मैंने इस उपन्यास को कर्नाटक के किसान नेता गौड़ा शांतिवेरी को समर्पित किया था। वह डॉ. लोहिया के अनुयायी थे, वह कर्नाटक में विधायक और हमारे अच्छे मित्र थे। मैंने जब उन्हें यह उपन्यास भेजा तो उन्होंने पूरी कथा डॉ. लोहिया को सुनाई। डॉ. लोहिया को *संस्कार* इतना पसंद आया कि उन्होंने अपने मित्र और फिल्म निर्माता श्री पट्टाभिराम रेड्डी को इसके बारे में बताया और इस कथा पर फिल्म बनाने के लिए प्रेरित किया। श्री रेड्डी की पत्नी स्नेहलता इस फिल्म की नायिका बनी, वह अत्यंत रूपवती व कुशल नृत्यांगना थीं। उनको आपातकाल में बंदी बनाया गया था और यह उनके असामयिक निधन का कारण भी बना। वस्तुतः रेड्डी दंपति लोहिया के व्यापक परिवार के ही सदस्य थे। 'संस्कार' फिल्म ने कन्नड़ सिनेमा का परिदृश्य ही बदल दिया। इसे नए दौर के सिनेमा का प्रेरक माना गया और ढेरों पुरस्कार मिले।

डॉ. साहब से मेरी दूसरी अंतरंग मुलाकात तब हुई जब वे मेरे छोटे से घर में पधारे। मेरा हाल में ही विवाह हुआ था और हमें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी। मेरे बेटे की तबीयत खराब थी क्योंकि उसे काली खांसी की बीमारी थी। डॉक्टरों ने बताया कि मां के दूध पर निर्भरता की अवधि के दौरान शिशु को यह बीमारी नहीं होनी चाहिए अन्यथा जान का खतरा हो सकता है। डॉ. लोहिया ने जब मेरे बीमार बच्चे को देखा तो बहुत चिंतित हुए और पूरे दिन काली खांसी के बारे में पत्नी से और मुझसे बातें पूछते रहे और दवाइयों की जानकारी ली। उस मुलाकात में राजनीति के बारे में एक शब्द भी चर्चा में नहीं आया। डॉक्टर साहब का ऐसा अनूठा व्यक्तित्व था।

फिर कुछ दिनों बाद हम लोहिया जी को श्री गोपाल गौड़ा की मदद से मैसूर विश्वविद्यालय में एक व्याख्यान के लिए आए थे। वे सामान्यतः हिंदी में ही सार्वजनिक ख्याख्यान देते थे लेकिन गौड़ा जी ने उनको अंग्रेजी में बोलने के लिए तैयार कर लिया था। व्याख्यान प्रभावशाली था लेकिन सभा की अध्यक्षता कर रहे प्रोफेसर साहब को डॉ. लोहिया के विचार समझ में नहीं आए और उन्होंने राजनीति-वैज्ञानिक होने के बावजूद लोहिया जी को निराशावादी विचारक कह दिया। गोष्ठी के बाद लोहिया जी अपने मित्र गोपाल जी पर उखड़ पड़े। उन्होंने काफी देर तक डांटा और मैंने उनके गुस्से को नजदीक से देखा। गोपाल गौड़ा भी यह व्यवहार सहन नहीं कर सके और कह दिया कि अब वह लोहिया जी के साथ आगे काम नहीं करेंगे। लेकिन कोई दस मिनट के बाद ही वह दोनों फिर से सहज हो गए।

एक बार उन्होंने वृंदावन के अपने एक प्रिय विश्राम-भवन में मुझे बुलाया, सुबह के नाश्ते पर उन्होंने मुझे पपीता खाने को कहा और देर तक पपीता के गुणों के बारे में समझाते रहे। उसी भेंट में उन्होंने मुझे कहा कि तुम कन्नड़ के लेखक हो और तुम्हें कन्नड़ को सार्वजनिक जीवन में उपयोग के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। उनकी यह मान्यता थी कि शिक्षा के क्षेत्र में प्राथमिक से स्नातक तक की पढ़ाई मातृभाषा में होनी चाहिए। फिर उन्होंने कहा कि स्नातकोत्तर की पढ़ाई का माध्यम हिंदी को रखना चाहिए। इस पर मैंने असहमति जताते हुए कहा कि यदि कोई भाषा आरंभिक पढ़ाई से लेकर स्नातक स्तर के लिए उपयोगी नहीं है तो उसे स्नातकोत्तर स्तर के लिए भी माध्यम नहीं बनाना चाहिए। तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि कुछ देर की चर्चा के बाद डॉक्टर साहब इस पर सहमत हो गए। वह सभी भारतीय भाषाओं के प्रबल अनुरागी थे। उनकी दृष्टि में अंग्रेजी का भी महत्व था लेकिन जनतांत्रिक भारत के सार्वजनिक जीवन में वह भारतीय भाषाओं की जगह पर अंग्रेजी का कब्जा खत्म करना चाहते थे। उन्होंने एक बार मुझे बताया कि जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने कभी संस्कृत को अपनी आत्माभिव्यक्ति के रूप में इस्तेमाल नहीं किया। हम भी बौद्धिक जिज्ञासा और क्षमता के लिए अंग्रेजी भाषा को सीखें लेकिन यह हमारी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हो सकती।

एक बार की मुलाकात में उन्होंने मुझसे बारहवीं शताब्दी की महान कन्नड़ संत-कवयित्री अक्का महादेवी के बारे में लंबी चर्चा की। मैं खुद भी अक्का की कविताओं को बहुत महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट मानता हूं। अक्का महादेवी एक असाधारण साधिका थीं जो ईश्वर के प्रेम में मगन होकर निर्वस्त्र विचरण करती थीं। डॉ. लोहिया ने बाद में अपने एक महत्वपूर्ण व्याख्यान में अक्का महादेवी का विस्तार से उल्लेख किया और उनको आध्यात्मिक समता की सिद्धि में सफलता का श्रेष्ठ बताया। लोहिया जी ने कहा कि नर-नारी समता के सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों ही पक्ष अत्यंत आवश्यक हैं। पश्चिमी महिला आंदोलन ने सामाजिक समता का संघर्ष किया और वे इसमें सफल हुई हैं। मैं चाहता हूं कि भारतीय महिलाओं को भी अविलंब सामाजिक समता मिले। वस्तुतः उनका मस्तिष्क अत्यंत उर्वर और मौलिकता से भरपूर था।

अगर हम डॉ. लोहिया के योगदान के बारे में देखें तो मेरी दृष्टि में यह साफ है कि गांधी की मृतप्राय धारा को उन्होंने प्रवाहमान बनाने में बल और तीक्ष्णता दी। अशक्त हो रहे गांधी विचार और तरीके को

उन्होंने बेहद कष्ट और जोखिम उठाकर पुनः प्रतिष्ठित किया। लोहिया ने गांधी-दृष्टि को पुनः परिभाषित किया जिससे कई प्रासंगिक और महत्वपूर्ण कार्यक्रमों की श्रृंखला बनी। यह ध्यान देना जरूरी है कि लोहिया ने अपनी दृष्टि के निर्माण में मार्क्स और गांधी दोनों से कई महत्वपूर्ण तत्व लिए हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक *मार्क्स, गांधी और समाजवाद* में उनका यह गुण दिखाई पड़ता है। लेकिन उन्होंने गांधी और मार्क्स में अपनी सहमति और असहमतियों दोनों को ईमानदारी से रखा है। वस्तुतः लोहिया गांधी के मानसपुत्र थे और इसिए वह उनसे पुत्रवत विवाद और असहमतियों का भी साहस कर सके। आजादी के पूर्व मैं अपने पिता के साथ कर्नाटक के एक गांव में बड़ा हुआ हूं। मेरे पिता गांधी जी से प्रेरित थे। वह हरिजन पत्रिका के नियमित पाठक थे और उससे मिली जानकारी गांव वालों के बीच फैलाते थे। वह भी मुझसे कहा करते थे कि देखो राममनोहर लोहिया नाम का एक युवक ऐसा भी है जो गांधी जी की बातों पर भी सवाल उठाता है।

आजादी के बाद के भारतीय समाज और राजनीति में समाजवादी आंदोलन का प्रचार-प्रसार डॉ. लोहिया का एक ऐतिहासिक योगदान है। समाजवादी आंदोलन को मजबूत बनाने के लिए उन्होंने स्थापित दलों को तोड़कर नई पार्टियां बनाने का खतरा उठाया। हम उनको एक सर्जक और भंजक दोनों ही कह सकते हैं। सशक्त समाजवादी विकल्प के निर्माण के लिए वह जयप्रकाश और अशोक मेहता जैसे घनिष्ठ मित्रों से अलग हुए। उन्होंने कांग्रेस, प्रसोपा और समाजवादी पार्टी को बदलने और तोड़ने का काम किया। इसमें उनको अलोकप्रियता का सामना करना पड़ा, लेकिन खुद की प्रतिष्ठा को दांव पर लगाकर समाजवादी आंदोलन और भारतीय समाज को जीवंत बनाने का निरंतर प्रयास ही तो लोहिया की विशिष्टता थी। हमारे जैसे लोग उनसे इसीलिए जुड़े क्योंकि वह सस्ती लोकप्रियता की बजाय जोखिम उठाने का साहस रखते थे। उनकी राजनीति में सत्ता की इच्छाशक्ति थी लेकिन कुर्सी के लिए लालच नहीं था। समाज में हर व्यक्ति को शक्तिमान बनाना उनका महान स्वप्न था और इसके लिए वह मंत्री की कुर्सी पाना जरूरी नहीं समझते थे। उनके एक सहयोगी अशोक मेहता ने सरकार के सहयोग से बदलाव की जरूरत का तर्क देते हुए मंत्री का पद स्वीकारने के लिए समाजवादी आंदोलन से नाता तोड़ लिया था। लोहिया ने अशोक मेहता के इस कदम को कुर्सी की लालसा माना और कहा कि हमें सत्ता की इच्छाशक्ति (will to power) की जरूरत है। सिर्फ एक पद हासिल करने से यह नहीं हो सकता। इसीलिए मैं यह समझाता हूं कि बदनामी का खतरा उठाकर भी लोहिया ने हमारे समाज में 'सत्ता के लिए इच्छाशक्ति' को मजबूत किया और यह उनका अद्वितीय योगदान है।

लोहिया ने समाज के वंचित विशाल बहुमत को नवजीवन और आत्मविश्वास दिलाने के लिए विशेष अवसर के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। महिलाओं, दलितों, शूद्रों, अनुसूचित जनजातियों और अल्पसंख्यकों की वंचित जमातों को वह साठ प्रतिशत हिस्सेदारी एक दार्शनिक आधार पर दिलाना चाहते थे। यह सिर्फ आर्थिक और सामाजिक तर्कों पर आधारित नहीं था। उनकी यह मान्यता थी कि एक स्वस्थ समाज में संपूर्ण क्षमता की बजाय अधिकतम क्षमता का होना बेहतर है। हमारे समाज में शूद्रों, महिलाओं, दलितों समेत सभी वंचित और उपेक्षित जमातों के सशक्तीकरण से ही अधिकतम क्षमता वाला समाज बनेगा। भारतीय समाज के स्त्री-प्रसंग के बारे में भी उनकी दृष्टि अनूठी थी। वह समूची स्त्री परंपरा में द्रौपदी को श्रेष्ठतम आदर्श मानते थे। लोहिया ने याद दिलाया है कि स्वयं कृष्ण भी द्रौपदी को बेहद चाहते थे। लोहिया की दृष्टि में द्रौपदी तेजस्विता, विवेक और बहादुरी का श्रेष्ठतम समन्वय थी। भारतीय स्त्री को भी द्रौपदी जैसा तेज और आत्मविश्वास से लैस हुए बिना नर-नारी समता का सपना पूरा नहीं होगा।

डॉ. लोहिया की गैर-कांग्रेसवाद की नीति को जबर्दस्त सफलता मिली थी। उन्होंने अंतिम हद तक जाकर कांग्रेस को सत्ताच्युत करने में सफलता पाई, लेकिन इसके बाद के परिणामों से मैं असहमत रहा हूं क्योंकि समाजवादियों ने जनसंघ के साथ बार-बार समझौते किए हैं। यह समाजवाद नहीं हो सकता। यह डॉ. लोहिया और बाद में जयप्रकाश जी की सोच की एक मुख्य कमी रही है। मेरी यह आलोचना है कि इस नीति से एक ऐसी पार्टी को सत्ता मिली जो बिना गैर-कांग्रेसवाद के कभी भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती थी। जार्ज फर्नांडीज और नीतीश कुमार समेत लोहिया जी के अनेक अनुयायियों ने सांप्रदायिक दलों के साथ समझौते किए। श्री मधु लिमये जैसे कुछ लोग जरूर इस गलती के प्रति सजग थे और उन्होंने लोहिया और जयप्रकाश के पथ पर चलने का प्रयास किया। मेरी राय में आज की दुनिया में स्पष्ट प्रासंगिकता है, लोहिया कहते थे कि जिंदा कौम पांच साल का इंतजार नहीं करती। यह एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शन है। हम सभी को किसी भी परिस्थिति के बारे में दूरदृष्टि और तात्कालिक दृष्टि दोनों होनी चाहिए और हमारा आचरण इन दोनों के समन्वय से बनना चाहिए।

लोहिया ने बताया था कि समाजवादी समाज के लिए हमें सौ बरस की सक्रियता का धीरज होना चाहिए लेकिन आने वाले कल में ही इसे हासिल करने की तैयारी भी रखनी है। आज पूंजीवाद की चौतरफा विजय दिखती है। यह भूमंडलीकरण के रूप में हर ओर पाया जाता है। भूमंडलीकरण के कारण धरती के पर्यावरण पर भी संकट आ पड़ा है, किसान आत्महत्या कर रहे हैं। फिर भी समाजवाद की आज कोई संभावना कहां है? लेकिन लोहिया की दृष्टि के आधार पर पूंजीवाद विरोध से प्रेरित सभी जमातों के एकजुट होने की संभावना है। फिर भी यदि ऐसा होने में अगले सौ बरस लग जाएं तो हमें याद रखना चाहिए कि लोहिया मूलतः 'निराशा के कर्तव्य' के मार्गदर्शक थे। बिना कुर्सी के लालच और अन्य तात्कालिक फायदों के हमें अपने कर्तव्य करने की क्षमता होनी चाहिए। लोहिया इसी आत्मबल के प्रबल प्रतीक थे। मैं मानता हूं कि उनके जीवन का यही संदेश था और यह अत्यंत प्रासंगिक है। ■

सामयिक वार्ता R.N.I. पंजीयन संख्या 31211/77

किसान विरोधी कानून

नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा मध्य प्रदेश में, बड़वानी जिले के ग्राम - पिछोडी, धार जिले के ग्राम - चिखल्दा, कड़माल और निसरपुर में तीनों बिलो को जलाकर किया गया विरोध।

250 किसान संगठनों के मंच अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति की अपील पर 25 सितम्बर को पूरे देश में किसान विरोधी बिलों को रद्द करने की मांग को लेकर किसानों द्वारा देशभर में प्रतिरोध कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। इसमें किसान संघर्ष समिति- जन आंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय से जुड़े संगठनों द्वारा मध्य प्रदेश के विभिन्न जिलों में भी कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं ।

हम मानते हैं कि केंद्र सरकार ने किसान, किसानी और गांव को बर्बाद करने, मंडी व्यवस्था समाप्त करने, न्यूनतम समर्थन मूल्य देने की व्यवस्था को खत्म करने, व्यापारिक कंपनियों को मुनाफाखोरी और जमाखोरी की छूट देने, किसानों की जमीन कंपनियों को सौंपने के उद्देश्य से लॉकडाउन के समय में तीन किसान विरोधी बिल (1) आवश्यक वस्तु कानून 1925 में संशोधन बिल, (2) मंडी समिति एपीएमसी कानून (कृषि उपज वाणिज्य एवं व्यापार संवर्धन व सुविधा बिल) (3) ठेका खेती (मूल्य आश्वासन पर बंदोबस्ती और सुरक्षा) समझौता कृषि सेवा बिल, 2020 एवं एक प्रस्तावित नया संशोधित बिजली बिल 2020 लाकर कृषि क्षेत्र को कॉरपोरेट के हवाले कर दिया है तथा आजादी के बाद किए गए भूमि सुधारों को खत्म करने का रास्ता प्रशस्त कर दिया है।

अब तक किसान आत्मनिर्भर था परंतु केंद्र सरकार उन्हें अब कॉरपोरेट का गुलाम बनाने पर आमादा है। अब तक बीज, खाद, कीटनाशक पर कॉरपोरेट का कब्जा था अब कृषि उपज और किसानों की जमीन पर भी कॉरपोरेट का कब्जा हो जाएगा। विद्युत संशोधन बिल के माध्यम से सरकार बिजली के निजीकरण का रास्ता प्रशस्त कर रही है। जिसके बाद किसानों को बिजली पर मिलने वाली सब्सिडी समाप्त हो जाएगी जिसके चलते किसानों को महंगी बिजली खरीदनी होगी। केंद्र सरकार ने किसानों की आमदनी दुगुनी करने की घोषणा की थी, लेकिन किसान विरोधी कानून लागू हो जाने के बाद किसानों की आमदनी आधी रह जाएगी तथा किसानों पर कर्ज और आत्महत्याएं दुगुनी हो जाना तय है। देश में बेरोजगारों की संख्या 15 करोड़ पहुंच चुकी है। ऐसी हालत में 65 प्रतिशत ग्रामीण आबादी के जीवकोपार्जन के साधन कृषि को बर्बाद करने से बेरोजगारी अनियंत्रित हो जाएगी।

आपको याद होगा अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के वर्किंग ग्रुप के किसान नेताओं ने आपसे मुलाकात कर किसानों की संपूर्ण कर्जा मुक्ति तथा लागत से डेढ़ गुना मूल्य की गारंटी संबंधी बिल आपको सौपें थे तथा आपसे सरकार को इन बिलों को संसद में पारित कराने के लिए प्रेरित करने का अनुरोध किया था क्योंकि देश के किसानों की यही मुख्य आवश्यकता थी।

कोरोना काल में किसानों को हुए नुकसान की भरपाई देने तथा जीडीपी में 24 प्रतिशत कमी आने के बावजूद किसानों द्वारा अपनी मेहनत से अन्न भंडार भर देश की खाद्य सुरक्षा अक्षुण्ण रखने के बावजूद केंद्र सरकार ने किसानों की आवश्यकताएं पूर्ति करने की जगह किसानों की बर्बादी करने वाले बिल अलोकतांत्रिक ढंग से बिना किसान संगठनों, सभी राज्य सरकारों से परामर्श किये बगैर, संसद में आवश्यक चर्चा तथा मत विभाजन न कराकर किसानों पर थोप दिए हैं। संपूर्ण विपक्ष ने इन्हें किसानों का डेथ वारंट बतलाया है तथा 18 पार्टियों ने आपसे मिलकर हस्ताक्षर न करने की अपील भी की है।

संसद में देश के किसानों ने सरकार का जो रवैया देखा है उससे किसानों का संसदीय लोकतंत्र पर विश्वास घटा है। राष्ट्रपति होने के नाते आपकी जिम्मेदारी और जवाबदेही भारत के संविधान के प्रति है। केंद्र सरकार द्वारा लागू किए गए बिल किसानों के सम्मानपूर्वक जीवन जीने के अधिकार को बाधित करेंगे तथा किसानों पर नई गुलामी थोपेंगे।

केंद्र सरकार ने श्रम कानूनों को खत्म कर श्रमिकों को भी कॉरपोरेट का गुलाम बना दिया है ।

किसान मजदूर हितों की रक्षा करते हुए केंद्र सरकार द्वारा पारित कराए गए बिलों को सरकार को वापस भेजेंगे तथा सरकार को अपने फैसले पर पुनर्विचार कर बिलों को रद्द करने हेतु प्रेरित कर देशवासियों विशेष कर किसानों-मजदूरों के प्रति अपनी जिम्मेदारी का वहन करेंगे।

नर्मदा बचाओ आंदोलन-जन आंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय-अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति की ओर से यह मांग की गई है कि सरकार किसानों पर थोपे गए इन तीनों बिलों को रद्द करें।

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक अतुल कुमार प्रसाद सिंह द्वारा 14, समसपुर जागीर, पांडवनगर, दिल्ली-110091 से प्रकाशित और दीप कलर स्कैन (प्रा.) लिमिटेड, एफ-5, गली नं. 4ए, फ्रेंड्स कॉलोनी इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली-95 से मुद्रित। संपादक : अफलातून